दृष्टिकोण

राजकुमार, द्रोणगिरि

Created by Universal Document Converter

लेखक द्वारा लिखित प्रकाशित साहित्य

अनुपलब्ध

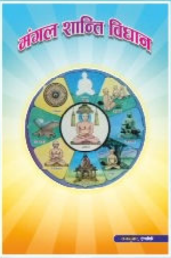

₹ 10/-

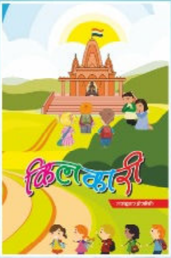

₹ 20/-

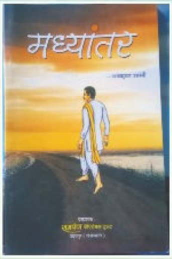

₹ 30/-

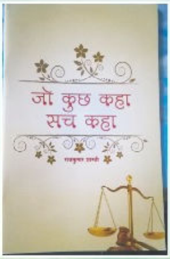

₹ 20/-

अनुपलब्ध

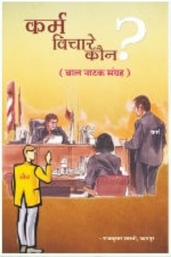

₹ 20/-

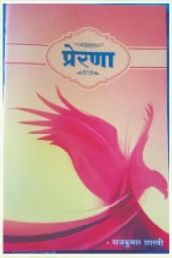

₹ 20/-

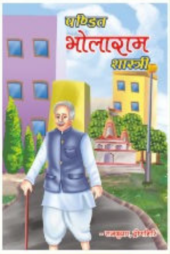

₹ 25/-

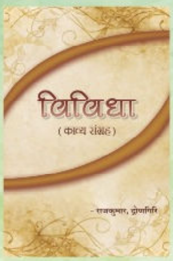

₹ 20/-

₹ 5/-

मुख पृष्ठ चित्रांकन

श्रीमती निष्ठा – अगम जैन, उदयपुर

Created by Universal Document Converter

समर्पण चैरिटेबल ट्रस्ट का 34 वाँ पुष्प

दृष्टिकोण

लेखक

राजकुमार शास्त्री

प्रकाशक

समर्पण

18, आदिनाथ कॉलोनी, केशवनगर, उदयपुर (राज.)

मो. 91 9414103492

Created by Universal Document Converter

प्रस्तुत प्रकाशन में सहयोग करने वाले महानुभाव

1.	गुप्तदान, उदयपुर	**2100/-**
2.	अरविन्द जैन-श्री चन्द्रभान जैन, घुवारा	**1100/-**
3.	डॉ. विपिन जैन, भोपाल	**1000/-**

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
[श्रावण कृष्ण एकम, वीर शासन जयंती, 14 जुलाई 2022]

प्राप्ति स्थान : **शाश्वतधाम, उदयपुर (राज.),**
मो. 91-9414103492
: **श्री दिनेश शास्त्री, जयपुर**
मो. 91-9928517346

साहित्य प्रकाशन हेतु सहयोग राशि : 30/-

मुद्रक : देशना (दिनेश) कम्प्यूटर्स
मालवीया इण्डस्ट्रियल एरिया, जयपुर
मो. 9928517346

Created by Universal Document Converter

प्रकाशकीय

साहित्य समाज का दर्पण व मार्गदर्शक होता है। जब से साहित्य लेखन प्रारंभ हुआ है तब से विविध भाषाओं व विविध शैलियों में साहित्यकारों ने साहित्य सृजन कर समाज को दर्पण भी दिखाया व मार्गदर्शन भी किया, जिसके फलस्वरूप पाठकों के हृदय उज्ज्वल हुए, समाज की विकृतियाँ दूर हुईं, सन्मार्ग की प्राप्ति हुई और जीव शांति के मार्ग पर चल सके।

हर कालखंड में नये-नये लेखक होते रहे हैं, जो अपनी भावनाओं व शैलियों के अनुरूप साहित्य की रचना करते रहे हैं।

विगत 8 वर्ष पूर्व **समर्पण चैरिटेबल ट्रस्ट** ने साहित्य प्रकाशन में अपना छोटा सा कदम रखा और यह प्रयास किया कि नये लेखकों की समयानुकूल भावों को लिए हुए, छोटी-छोटी रचनाओं का प्रकाशन किया जाये। हमें बहुत प्रसन्नता है कि हम अभी तक 33 पुष्प अनेक विधाओं में (उपन्यास, काव्य, पूजन साहित्य, पाठ साहित्य, लेख, एकांकी, कहानी) पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर सके हैं।

'दृष्टिकोण' राजकुमार शास्त्री द्वारा लिखित 21वीं एवं समर्पण द्वारा प्रकाशित 34वीं रचना है। दृष्टिकोण में लेखक ने यह प्रयास किया है कि वस्तु अनेकांतात्मक है, जिसे स्यादवाद शैली में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से निरूपित किया गया है। मोक्षमार्ग की दृष्टि से अनेक विषय ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण/अभिप्रायों से आचार्यों के कथन आगम में प्राप्त होते हैं; परन्तु नवीन पाठक का संतुलित चिंतन न होने से वह दिग्भ्रमित-सा होने लगता है, विरोधाभास प्रतीत होने लगता है, अतः अत्यावश्यक विषयों को लेते हुए भिन्न-भिन्न कथनों के दृष्टिकोणों को इस लेखमाला में स्पष्ट किया गया है।

हम आशा रखते हैं कि निश्चित ही यह पुस्तक नवीन पाठकों के लिए आगम के विविध दृष्टिकोणों को समझने में उपयोगी सिद्ध होगी।

इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन्होंने अर्थ सहयोग प्रदान किया है, उन्हें धन्यवाद। पुस्तक के आकर्षक मुद्रण हेतु श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स जयपुर को भी साधुवाद देते हैं, जो हमारी इच्छा अनुसार प्रकाशन में सदैव तत्पर रहते हैं।

आप पुस्तक पढ़कर जो भी आपके भाव हों उन्हें 9414103492 पर अवश्य ही सूचित कर अनुग्रहीत करें।

निवेदक : **'समर्पण' चैरिटेबल ट्रस्ट, उदयपुर**
मो. 9511330455, 9414103492

Created by Universal Document Converter

समर्पण चैरिटेबल ट्रस्ट : एक परिचय

देव-धर्म-गुरु के चरणों में तन-मन-धन सब अर्पण।
आतमहित व तत्त्वज्ञान को, है सर्वस्व समर्पण।।

ट्रस्ट का नाम – समर्पण चैरिटेबल ट्रस्ट **स्थापना तिथि** – 20 सितम्बर 2014

ट्रस्ट मण्डल – संरक्षक : ❖ श्री अजित जैन बड़ौदा ❖ श्री चन्द्रभान जैन घुवारा ❖ श्री ताराचन्द जैन उदयपुर ❖ श्री प्रकाशचन्द छाबड़ा सूरत ❖ श्री ललितकुमार किकावत लूणदा।

अध्यक्ष–राजकुमार शास्त्री उदयपुर। **उपाध्यक्ष**–अजितकुमार शास्त्री अलवर। **कोषाध्यक्ष**–रमेशचन्द वालावत उदयपुर। **मंत्री**–डॉ. ममता जैन उदयपुर। **सह-मंत्री**–पीयूष शास्त्री जयपुर। **ट्रस्टी**–पं. अशोकुमार लुहाड़िया, मंगलायतन, अलीगढ़ ❖ ऋषभकुमार शास्त्री, छिन्दवाड़ा ❖ डॉ. महेश जैन, भोपाल ❖ रतनचन्द शास्त्री, भोपाल ❖ इंजी. सुनील जैन, छतरपुर ❖ गणतंत्र 'ओजस्वी', आगरा

ट्रस्ट की सामान्य रूपरेखा

उद्देश्य : **1.** तत्त्वज्ञान, अहिंसा, शाकाहार, सदाचार का प्रचार करना। **2.** सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध जागरुकता पैदा करना। **3.** अनुपलब्ध, आवश्यक व नये लेखकों का श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशित करना। **4.** सर्वोपयोगी पत्रिका प्रकाशित करना। **5.** शिक्षा व चिकित्सा के क्षेत्र में आवश्यक मार्गदर्शन एवं सहयोग करना।

कार्य पद्धति : **1.** सबसे सहयोग, सबको सहयोग की भावना से साधर्मियों से प्राप्त सहयोग साहित्य/चिकित्सा/शिक्षा पर आवश्यकतानुसार व्यय करना। **2.** किसी भी व्यक्ति या संस्था से सम्बद्ध न होकर सर्वोपयोगी काम करना। **3.** सर्वोपयोगी योजना को वाट्सएप व संस्कार सुधा के द्वारा सबके समक्ष रखना। यदि साधर्मी स्वेच्छा से उस योजना में सहयोग करते हैं तो ही योजना क्रियान्वित करना। **4.** फण्ड एकत्र करने के लिए धार्मिक कार्यक्रमों का आयोजन नहीं करना। **5.** ध्रुवफण्ड हेतु प्रयास नहीं करना। **6.** किसी भी योजना के लिए अर्थ सहयोग हेतु व्यक्तिगत सम्पर्क/प्रेरणा नहीं करना। **7.** आयोजन में होने वाले प्रदर्शनों से बचना। **8.** अच्छी बातें–सच्ची बातें ज्यादातर लोगों तक पहुँचें – ऐसा प्रयास करना। (कार्य करने की यह पद्धति मात्र समर्पण द्वारा किए जाने वाले कार्यों के लिए ही है)

गतिविधि : **1.** साहित्य प्रकाशन। **2.** 'संस्कार सुधा' मासिक पत्रिका का प्रकाशन। **3.** 'सुखायतन' – सुखार्थी साधर्मियों के लिए नि:शुल्क/सशुल्क आवास–भोजन की व्यवस्था के साथ आध्यात्मिक पर्यावरण प्रदान करना। **4.** 'साधर्मी वात्सल्य योजना' – साधर्मियों से स्वैच्छिक सहयोग लेकर योग्य साधर्मियों को शिक्षा/चिकित्सा सहयोग पहुँचाना। **5.** 'प्रयास' प्रकल्प के माध्यम से जैन समाज के युवा वर्ग को धार्मिक संस्कारों के साथ लौकिक जीवन में उन्नति के विविध क्षेत्रों का परिचय व मार्गदर्शन देना, यथायोग्य–यथासंभव सहयोग करना और इस प्रकल्प को सार्थक करने के लिए यदि आवश्यक हुआ तो केन्द्रों का निर्माण व संचालन करना।

Created by Universal Document Converter

अंतरंग

दृष्टिकोण क्यों ?

अनेक प्रवक्ताओं से जिनवाणी के सूक्ष्म रहस्यों को सुनने का अवसर प्राप्त होता रहा है और अपनी योग्यता से समझने का भी पुरुषार्थ करता रहता हूँ। जिनवाणी में परस्पर विरोधी दिखने वाले कथन बहुत अधिक आते हैं, जिनका विरोध दूर करने का प्रयास प्रवक्ताओं द्वारा निरन्तर किया जाता है, जिससे सभी श्रोता लाभान्वित होते रहते हैं।

मेरे मन में अनेक बार यह बात आती थी कि जो कथन परस्पर विरोधी से दिखाई दे रहे हैं, उनका यदि संक्षेप एवं सरल भाषा में एक ही स्थान पर अभिप्राय/दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाए तो नवीन श्रोताओं/पाठकों को जिन्हें कि यह विश्वास है कि हमारे लेखक या वक्ता सही ही कह रहे हैं, उन्हें उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है, मात्र उन्हें उन कथनों की अपेक्षा/दृष्टिकोण स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इस भावना से मैंने विशिष्ट लेखकों से अनेक बार चर्चा की कि उनकी लेखनी से यदि इस प्रकार का विषय स्पष्ट किया जाए, तो जिनके पास समय कम है, परन्तु ग्रहण करने की क्षमता अधिक है, वे संक्षेप में जिनागम के रहस्य को समझ सकेंगे; परन्तु उन लेखकों द्वारा अपने अन्य कार्यों में व्यस्त होने से यह कार्य नहीं किया जा सका।

मेरे मन मैं यह कार्य करने की विशेष भावना थी, अतः 2 वर्ष पूर्व दृष्टिकोण लेखों की शृंखला मैंने व्हाट्सएप पर लिखना प्रारंभ कर 25 लेख मैंने सभी को प्रेषित किए। 2 वर्ष बाद पुनः वे लेख मुझे हस्तगत हुए; तो उनको व्हाट्सएप पर पुनः प्रसारित तो किया ही साथ ही भावना हुई कि क्यों न इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कराया जावे। व्हाट्सएप पर अनेक पाठकों ने इन संदेशों की उपयोगिता को व्यक्त किया है, जिससे इनके प्रकाशन की भावना को बल प्राप्त हुआ है। उन 25 लेखों में 10

Created by Universal Document Converter

लेख और जोड़कर 35 लेखों का यह संकलन आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इन लेखों को आदरणीय पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री देवलाली ने पढ़कर परिमार्जन ही नहीं कराया, अपितु कुछ नये विषय लिखने को भी प्रेरित किया, तदर्थ आभारी हूँ। आदरणीया ब्र. कल्पनाबेनजी से शाश्वतधाम में हुई चर्चा के आधार से शुद्धोपयोग एवं स्वरूपाचरण के विषय में लिखा है, साथ ही उन्होंने पुस्तक के संदर्भ में भी मार्गदर्शन प्रदान किया, इसलिए उनका भी आभारी हूँ। डॉ. शान्तिकुमार पाटील जयपुर, पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन बिजौलिया, पण्डित अशोककुमार लुहाड़िया मंगलायतन, भाई पीयूष शास्त्री जयपुर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने भी यथायोग्य मार्गदर्शन प्रदान किया है, उन सभी का मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

आगम के विषय गंभीर हैं और मेरा क्षयोपशम कम है, पर भावना अधिक होने से यह 'दृष्टिकोण' लिखे हैं, यदि जिनवाणी माँ, आचार्य भगवन्तों के दृष्टिकोण से विपरीत कोई भी दृष्टिकोण प्रस्तुत हो गया हो, तो मैं हृदय से क्षमा याचना करता हूँ। जो प्रबुद्ध पाठक त्रुटि की ओर हमें इंगित करेंगे, उनका मैं हृदय से आभारी रहूँगा।

यह पुस्तक मुख्य रूप से युवा वर्ग को लक्ष्य कर लिखी गई है, इनमें आगम के उद्धरणों का अभाव है; परन्तु सब कुछ आगम का ही है, भाषा यथा योग्य सरल ही रखी है। उदाहरणों का या अन्य प्रसंगों का विस्तार नहीं करते हुए यथासंभव संक्षेप में ही बात कहने का प्रयास किया गया है। पुस्तक में कुछ विषयों की पुनरुक्ति दिखाई देगी, जो कि उन विषयों की गंभीरता/आवश्यकता को देखते हुए की गई है।

यदि आपको इस पुस्तक से कुछ भी लाभ होता है तो निश्चित ही हमें प्रसन्नता होगी।

23-06-2022 **– राजकुमार शास्त्री**

Created by Universal Document Converter

विषयानुक्रमणिका

क्र. विषय	पृ.सं.
1. प्रास्तविक	9
2. दृष्टिकोण समझना आवश्यक क्यों ?	11
3. मात-पिता मेरा परिवार - सत्यासत्य है यह व्यवहार ?	13
4. जीव परद्रव्यों का कर्ता-अकर्ता ?	16
5. जीव और शरीर भिन्न या अभिन्न ?	21
6. जीव शरीर की क्रिया का कर्ता या अकर्ता ?	26
7. आत्मा रागादि भावों से अभिन्न या भिन्न ?	30
8. आत्मा रागादि भावों का कर्ता या अकर्ता ?	32
9. शुभभाव - मोक्ष या बंध का कारण ?	35
10. ज्ञानी-अज्ञानी कहने की अपेक्षाएँ !	39
11. सम्यग्दर्शन - मोक्ष या स्वर्ग का कारण ?	41
12. आत्मा - अशुद्ध या शुद्ध ?	42
13. महाव्रत - मोक्ष या बंध के कारण ?	45
14. गुरु बिन ज्ञान नहीं ?	47
15. जीव कर्मोदय से दु:खी ?	49
16. पुण्य को हेय कहने का अभिप्राय ?	51
17. राग का कर्ता - जीव या कर्म ?	53
18. शुद्धोपयोग कहाँ ?	55
19. चारित्तं खलु धम्मो	57
20. स्वरूपाचरण एवं सम्यक् चारित्र!!	59
21. जैसी गति, वैसी मति या जैसी मति वैसी गति !	62
22. जीव और अजीव कहने का दृष्टिकोण	65
23. मृत्यु अकाल में या स्व काल में ?	66
24. व्यवहार नय के कथनों के दृष्टिकोण	68
25. सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं के दृष्टिकोण	70
26. कार्य - सहज साध्य या पुरुषार्थ साध्य ?	72
27. निश्चय नय-व्यवहार नय के दृष्टिकोण	75
28. ज्ञान (आत्मा) पर प्रकाशक है और पर प्रकाशक नहीं, मात्र स्व प्रकाशक है	78

Created by Universal Document Converter

29. आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त है और आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है? 81
30. इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान है या नहीं 83
31. सोलह कारण भावनाएँ यदि बंध का कारण हैं, तो उनकी पूजन क्यों? 85
32. अकर्तृत्व-स्वकर्तृत्व-सहज कर्तृत्व 87
33. दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं? 90
34. हेय-ज्ञेय-उपादेय 92
35. वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है 95

संकल्प

जिसने जन्म लिया दुनिया में, उसको एक दिन मरना है।
मरने से पहले पर सोचो! बंधु! कुछ तो करना है।।
वृक्ष मधुर फल, शीतल छाया, देकर करता है उपकार।
रवि प्रकाश दे तम हरता है, नहीं चाहता कुछ सहकार।।
चन्द्र चन्द्रिका शुभ्र बिछाकर, करता शीतलता का दान।
सरिता जल दे, पुष्प सुरभि दे, कभी नहीं करते हैं मान।।
जग हितकर यह कार्य सदा हों, नहीं प्रदूषण करना है।।1।।
मात-पिता ने लालन-पालन, कर कीना है बहु उपकार।
दादा-दादी नाना-नानी, सबने खूब लुटाया प्यार।।
अपनी उन्नति में समाज अरु संस्थाओं का भी सहयोग।
शिक्षा-औषधि और सुरक्षा, में शासन का विनियोग।।
चुका सकें उपकार सभी का, इनकी सेवा करना है ।।2।।
सत्साहित्य सृजन कर मुनिजन, सत्य पंथ है बतलाया।
मधुर सुभाषित वचनामृत दे, गुरुजन ने वह समझाया।।
मोह विनाशक, ज्ञान प्रकाशक, ज्ञान का दीप जलाया है।
तन-मन-धन, स्नेह दान कर, यह प्रकाश फैलाया है।।
हो निरपेक्ष भाव ही मन में, सत्यपंथ पर चलना है।।3।।
दुर्लभ नर भव में हे बंधु ! करो प्रकृति का संरक्षण।
प्रकृति सुरक्षित रही यदि तो, होगा अपना ही रक्षण।।
परिजन-पुरजन अरु समाज का, मानो जो है अनुशासन।
कर्तव्यों का पालन करना, कहता जो भारत शासन।।
धर्म की चर्चा हर घर में हो, ज्ञान प्रचार ही करना है।।4।।

Created by Universal Document Converter

1

प्रास्तविक

बालक वर्धमान के जीवन से सम्बन्धित एक बाल कहानी आपने भी पढ़ी होगी कि वर्धमान अपने राजप्रासाद में हैं। उनके मित्रगण उनके साथ खेलने के लिए आते हैं। नीचे वर्धमान की माँ प्रियकारिणी त्रिशला मिलती हैं। बालक पूछते हैं कि 'वर्धमान कहाँ हैं?'

माँ कहती हैं कि 'वर्धमान ऊपर हैं।'

बालक 7 मंजिल वाले नंद्यावर्त महल में दौड़ते हुए सबसे ऊपर पहुँचते हैं। वहाँ देखते हैं कि बालक वर्धमान वहाँ नहीं हैं; परन्तु महाराज सिद्धार्थ वहाँ विराजमान हैं। वे राजा सिद्धार्थ से पूछते हैं कि वर्धमान कहाँ हैं, तब वे कहते हैं कि 'वर्धमान नीचे हैं।'

बालक पुनः दौड़ते हुए नीचे आते हैं और उन्हें तीन मंजिल उतरने के बाद चौथी मंजिल पर बैठे हुए बालक वर्धमान दिखाई देते हैं।

बच्चे दौड़ते हुए थक गए थे। वर्धमान से मिलते ही वे पूछते हैं 'अरे मित्र! हम तो आप को खोजते हुए परेशान हो गए।'

तब वर्धमान ने कहा कि 'आपने माँ से नहीं पूछा।'

'पूछा था, उन्होंने कहा कि आप ऊपर हैं, तो हम ऊपर पहुँच गए और पिताजी से पूछा तो उन्होंने कहा आप नीचे हैं। इस तरह आपके माता-पिता ने तो हमारी दौड़ लगवा दी।'

तब बालक वर्धमान कहते हैं 'मित्रो! माँ पहली मंजिल पर थीं, मैं चौथी मंजिल पर हूँ, पिताजी सातवीं मंजिल पर हैं। अब विचार करो कि आपने जब माँ से पूछा कि मैं कहाँ हूँ? तो उन्होंने सच ही कहा है कि मैं ऊपर हूँ; क्योंकि वह पहली मंजिल पर हैं और मैं चौथी मंजिल पर। जब आप सातवीं मंजिल पर पहुँच गए, तब पिताजी ने सही ही कहा है

Created by Universal Document Converter

कि मैं नीचे हूँ; क्योंकि वह सातवीं मंजिल पर हैं और मैं चौथी मंजिल पर। आपने उनके कथन का सही अभिप्राय समझे, बिना केवल दौड़ लगाई है। यदि आप माँ के कथन को सही समझते, तो आपको इतनी दौड़ नहीं लगाना पड़ती।'

हम भी जिनवाणी माँ के कथन को सुनते ही मात्र दौड़ने लग जाते हैं, आचार्यों के वचनों को सुनकर, हम भागने लग जाते हैं; परन्तु अभिप्राय समझने की कोशिश नहीं करते।

कोई कहता है, इस शास्त्र में ऐसा लिखा है, तो कोई कहता है, यह आचार्य ऐसा कहते हैं। हम किसे सही माने? कौन गलत कह रहा है? कौन सही कह रहा है?

प्रत्येक वस्तु ही अनन्त धर्मात्मक है, वह नित्य भी है, अनित्य भी है, एक भी है, अनेक भी है, भेद भी है, अभेद भी है; अत: वस्तु के प्रतिपादन में विविधता है, विरोध नहीं है। आचार्यों के कथन किसी विशिष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिए है, उस प्रयोजन/अभिप्राय/दृष्टिकोण को समझ कर ही हम जिनागम का मर्म समझ कर सुखी हो सकते हैं।

जिनवाणी में कोई भी कथन असत्य नहीं है। हमें मात्र उन कथनों के अभिप्राय अर्थात् दृष्टिकोण को समझने की आवश्यकता है।

घर में पिता पुत्र से कहता है, 'जाओ! माँ को बुला लाओ।'

पुत्र यह नहीं कहता 'किसकी माँ को बुलाना है।'

वह समझ जाता है कि मुझे मेरी माँ, जो कि पिता की पत्नी है, उसे बुलाकर लाना है। पिता के कथन का दृष्टिकोण समझने से उसे किसी भी प्रकार की दुविधा नहीं होती। इसी तरह यदि हम जिनवाणी माँ के कथनों के दृष्टिकोण को समझेंगे; तो हमें भी दुविधा नहीं, बल्कि जिनवाणी पढ़ने में सुविधा ही होगी – इसी भावना से प्रस्तुत है 'दृष्टिकोण।'

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

2

दृष्टिकोण समझना आवश्यक क्यों ?

पारिवारिक/सामाजिक विसंवादों की तह में जब भी हम जाते हैं, तब मालूम चलता है कि सामने वाले के दृष्टिकोण/अभिप्राय को ना समझ पाने के कारण ही विसंवाद होते हैं, एक अच्छे मित्र को भी शत्रु के रूप में समझ लेते हैं। जब पुत्र, पिता के दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता या पिता, पुत्र के दृष्टिकोण को नहीं समझ पाता; पत्नी, पति क्या कहना चाहता है इस बात को नहीं समझ पाती या पति, पत्नी क्या कहना चाह रही थी; उसका किसी बात के निषेध करने के पीछे क्या दृष्टिकोण था – यह नहीं समझ पाते हैं, तो परिवार में विसंवाद/झगड़ा/अशान्ति/तनाव हो जाता है।

इसी प्रकार जिनागम में अनेक प्रकार के कथन हैं; क्योंकि वस्तु अनंत धर्मात्मक है। द्रव्य में अनंत गुण/धर्म/शक्तियाँ हैं, अत: उनको बताने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कथन हैं; यदि हम उन कथनों का दृष्टिकोण/अभिप्राय/तात्पर्य/नजरिया नहीं समझते हैं, तो स्वयं के मानसिक स्तर पर एवं अनेक बार सामाजिक स्तर पर भी विसंवाद/विसंगति पैदा हो जाती है।

हम जब भी प्रवचन सुनते हैं/शास्त्र पढ़ते हैं तो कहीं कथन आता है कि –

"महावीर भगवान के माता-पिता का नाम त्रिशला व महाराजा सिद्धार्थ था, जन्म चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को हुआ, कंचन वर्ण था और कहीं पढ़ते हैं कि आत्मा का जन्म ही नहीं होता, माता-पिता नहीं होते, जो रंग है वह आत्मा का नहीं है।"

हम कहीं पढ़ते हैं कि "जीव शुभ-अशुभ राग करके कर्मों का बंधन

Created by Universal Document Converter

करता है और चार गति में परिभ्रमण करता है और कहीं कथन आता है कि जीव कर्म बंधन कर ही नहीं सकता, जीव तो कर्मों से भिन्न है।''

कहीं कथन आता है कि ''आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने 84 ग्रंथों की रचना की, आचार्य उमास्वामीदेव ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की, इन्द्र ने अयोध्या नगर की रचना की और दूसरी ओर कथन आता है कि नगर-महल, ग्रन्थ ये तो सब पुद्गल की रचनाएँ हैं, जीव का इनसे अत्यन्ताभाव है, जीव इनको छू भी नहीं सकता, तब इनको बनाने की बात कहाँ से आई ?''

कहीं कथन आता है ''दया, दान, पूजा, व्रत आदि से मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति होती है और कहीं कथन आता है कि यह सब भाव संसार के कारण हैं। कहीं कथन आता है, हमें अशुभ राग छोड़कर, शुभ राग करना चाहिए और कहीं कथन आता है कि जीव राग कर ही नहीं सकता, राग तो विभाव है, स्वभाव नहीं है; आत्मा का काम तो मात्र जानना है।''

इस प्रकार हजारों कथन जिनागम में मिलते हैं, जिनके दृष्टिकोण को न समझ पाने के कारण हमारी मति भ्रमित हो जाती है।

हम इन 'दृष्टिकोण' लेखों के माध्यम से इन कथनों के क्या दृष्टिकोण हैं, वह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

आइए! हम जिनवाणी माँ के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करें; यदि हमारा दृष्टिकोण आचार्य भगवन्तों/जिनवाणी माँ के अनुसार हो गया; हमारा वस्तु और वस्तु के कथन को समझने का नजरिया आगम के आधार से हो गया, तो हमारे विचार, हमारी मानसिक स्थिति, हमारी जीवनशैली ही बदल जाएगी कहा भी है -

नज़रें बदली तो नजारे बदल गए,
कश्ती ने बदला रुख, तो किनारे बदल गए।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

3

मात-पिता मेरा परिवार - सत्यासत्य है यह व्यवहार ?

लोक में हम ईंट-पत्थर की दुकान को -

- किराने की दुकान

- मेरी दुकान और

- किसी आदरणीय व्यक्ति से, 'आपकी दुकान' कहते हैं।

अब यदि हम इन तीनों कथनों के दृष्टिकोण न समझें तो मति चकरा जाएगी कि आखिर यह दुकान किसकी है ?

पर एक ही दुकान - वहाँ किराना सामग्री मिलने से किराने की है।

दुनिया की दृष्टि में मेरा अधिकार होने से मेरी है और आदरणीय व्यक्ति के सामने उन्हें आदर देते हुए कहा जा रहा है कि 'यह दुकान आपकी है'; जबकि सच में वह ईंट-पत्थर से बनी होने से ईंट-पत्थर की है। हम उक्त कथनों के इन्हीं दृष्टिकोणों को समझ कर लोक व्यवहार बड़ी खुशी के साथ करते हैं।

घर में माँ बेसन के लड्डू बनाकर, डिब्बे में रखती है। तो हम -

'बेसन के लड्डू'

'डिब्बे के लड्डू'

'गुड्डू के लड्डू' इस तरह हम अलग-अलग कहते हुए भी समझते हैं कि;

लड्डू, बेसन से बने हैं, इसलिए बेसन के लड्डू।

लड्डू, डिब्बे में रखे हैं; इसलिए डिब्बे के लड्डू। और

लड्डू, गुड्डू को खाने के लिए बनाए हैं; इसलिए गुड्डू के लड्डू कहे जा रहे हैं।

Created by Universal Document Converter

उक्त कथनों के अभिप्राय भी हमें लौकिक जीवन में समझ में आते हैं तो कोई विसंवाद नहीं होता।

इसी प्रकार हमें जिनवाणी के भी अभिप्राय समझना चाहिए। जैसे –

''जीव के माता–पिता, धन–मकान आदि हैं और जीव इन सबसे अत्यंत भिन्न है, ये सब जीव के नहीं हैं/हो सकते नहीं हैं, इनको अपना मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।'' इस प्रकार परस्पर विरोधी कथन हम पढ़ते–सुनते हैं इनका दृष्टिकोण भी समझना आवश्यक है।

1. लोक में माता–पिता, परिवार धन–मकान आदि जीव के हैं यह कथन उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से किया जाता है।

जिनवाणी में ऐसा कथन इसलिए किया गया है कि जिनको अपना कहा जा रहा है, हम उनके अतिरिक्त अन्य किसी को अपना ना माने। हम दुनिया में रहेंगे, तो किसी घर में जाना/रहना होगा। किसी जगह जाकर व्यापार करना होगा; तो किस जगह जाएँ? यह व्यवस्था बनाए रखने के लिए, नैतिकता का व्यवहार चलाने के लिए, इस प्रकार के कथन किए गए हैं।

यदि यह कथन न किए जाएं, तो हम किसी भी मकान में घुस जाएंगे, किसी भी दुकान पर चले जाएंगे, किसी के साथ भी माता–पिता, पति–पत्नी का व्यवहार करने लगेंगे, जिससे अनैतिकता/अव्यवस्था/अनाचार फैल जाएगा; इसलिए आचार्यों ने कथन किया कि सामाजिक दृष्टि से जिन पर हमारा अधिकार कहलाता है, जो हमारे पालक हैं, जिनसे सामाजिक दृष्टि से हमारा सम्बन्ध है, वे हमारे माता–पिता, पति–पत्नी, मकान–दुकान हैं, जिससे कि हम वहाँ ही रहें, उससे बाहर किसी पदार्थ पर अपना स्वामित्व न जताएँ।

इस नय के द्वारा किए गए कथनों के आधार से ही विश्व में जो व्यवस्था दिखाई देती है, वह चल रही है।

Created by Universal Document Converter

2. 'माता-पिता, धन-मकान आदि ये सब हमारे नहीं हैं' इस कथन का अभिप्राय यह है कि सच में आत्मा अमूर्तिक है, वह अपने प्रदेशों में ही रहता है, सच में किसी भी द्रव्य का, दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं है। उसके गुण किसी दूसरे द्रव्य में जाते नहीं हैं, किसी से आते नहीं हैं, तब फिर सच में हमारा उनसे कोई संबंध नहीं है, अतः उनसे संबंध का निषेध किया गया है, जिससे कि हम वहाँ से हट कर, उनको अपना मानना छोड़कर, आत्मा के निकट आ सकें, आत्मा का परिचय पा सकें।

यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि जो मकान-धन आदि को जीव का कहा जाता है, यह वे जीव के हैं, यह सिद्ध करने के लिए नहीं; बल्कि उनके अलावा सामाजिक दृष्टि से भी कोई जीव का नहीं है; यह अभिप्राय विशेष समझाने के लिए मात्र कहा है।

यह बात भी समझना - कथन दो प्रकार के हैं - दोनों ही कथन जिनवाणी में हैं, एक व्यवहार नय से है, एक निश्चय नय से है।

व्यवहार नय और निश्चय नय; दोनों नयों के कथन प्रचलित होने से ही, इस लोक को दुनिया कहा जाता है।

दोनों प्रकार की बात कहना और जानना गलत नहीं है; दोनों प्रकार के कथन करने से ही हमारा पारस्परिक व्यवहार चल सकता है; परन्तु व्यवहार नय से जो कहा गया, उसको वैसा ही मान लेने, वैसा ही सत्य स्वीकार कर लेने से तो मिथ्यात्व होता है, हम मिथ्यादृष्टि रहते हैं और यदि निश्चय नय के अर्थात् परमार्थ सत्य स्वरूप को स्वीकार करेंगे; तो हमारी दृष्टि सम्यक् होगी/सम्यग्दर्शन होगा।

इस तरह हम दोनों कथनों के दृष्टिकोण समझें, इसमें ही हमारा हित है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

4

जीव परद्रव्यों का कर्ता-अकर्ता?

''मकान, दुकान, परिवार, समाज, संस्थान, राज्य, देश के कार्यों का कर्ता जीव को कहना और यह सब कार्य जीव नहीं कर सकता यह कहना।''

जैसे – 'भगवान महावीर स्वामी की वाणी सुनकर लाखों जीव परिवर्तित हुए।'

'आचार्यों ने शास्त्र की रचना की।'

'इन्द्र ने अयोध्या नगर या समवसरण की रचना की।'

'नारायण ने, प्रतिनारायण को मारा।'

'माता-पिता अपने बच्चों का लालन-पालन करते हैं/शिक्षा देते हैं यदि वे शिक्षा ना दें तो वे शत्रु के समान हैं।'

'भरत चक्रवर्ती ने 6 खंड पर राज्य किया।'

'राम ने सीता को वनवास दिया।'

'बाहुबली राजपाट छोड़कर मुनि दीक्षा लेकर ध्यान में निरत हो गए।'

'चक्रवर्ती ने छह खंड के वैभव का त्याग किया।'

'अणुव्रती/प्रतिमा धारक परिग्रह का परिमाण करके अन्य परिग्रह का त्याग कर देते हैं।'

'भारत के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी देश में कुशल संचालन कर रहे हैं।'

'पुत्र को अपने माता-पिता की सेवा करना चाहिए।'

Created by Universal Document Converter

उक्त सभी कथनों में यही दिखाई दे रहा है कि किसी ने, किसी का लालन-पालन, रचना, रक्षा, ग्रहण या त्याग किया है। हमारे जीवन में भी प्रतिदिन प्रतिसमय दुकान चलाना, कपड़े धोना, भोजन बनाना, बच्चों को पढ़ाना, चिकित्सक द्वारा चिकित्सा किया जाना, पुलिस द्वारा सुरक्षा दिया जाना, खिलाड़ी द्वारा बॉल पर चौका लगाना, बच्चे द्वारा गिलास तोड़ना इत्यादि दृश्य सामने निरन्तर आते हैं और तदनुसार इसने किया, उसने किया आदि कथन हमारे द्वारा किए जाते हैं।

उक्त कथन जैनदर्शन के अमूल्य सिद्धान्त 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है' से विरोधी दिखते हैं; पर विरोधी नहीं हैं। यदि हम दृष्टिकोण समझें तो हमें कोई विरोध भाषित नहीं होगा।

1. इन सभी कथनों में चाहे वे आगम के हों या हमारे जीवन के, उन सबका दृष्टिकोण यही बताना है कि जब यह घटना घटित हुई, उस समय वहाँ कौन उपस्थित था ? किसने वह कार्य करने के योग्य अपना विचार और अपने हाथ-पैर आदि को चलाने की क्रिया की ? अर्थात् इस व्यक्ति के अलावा और कोई नहीं है, अन्य सब पर से दृष्टि हटाकर, वहाँ तक सीमित कर देना, जिनवाणी का उद्देश्य है; परन्तु उनको उस कार्य का कर्ता सिद्ध करना, इन वचनों का उद्देश्य नहीं है।

जैसे - 'भगवान महावीर स्वामी की वाणी सुनकर लाखों जीव परिवर्तित हुए' यह जो सबसे पहला कथन है - उसका दृष्टिकोण यह कि जब लाखों जीव परिवर्तित हुए, उस समय वहाँ आदिनाथ-पार्श्वनाथ आदि अन्य कोई तीर्थंकर नहीं थे, मात्र महावीर भगवान थे और जब जीव परिवर्तित हुए, तब उनकी वाणी उन्होंने सुनी थी।

अयोध्या की रचना हुई अर्थात् रचना करने का भाव इन्द्र को आया।

ग्रन्थ रचना करने का भाव एवं उस रूप क्रिया आचार्यों ने की।

Created by Universal Document Converter

जब गिलास टूटा, उस समय बच्चे के पैर का धक्का लगा या उसने गुस्से में गिलास फैंका।

इतना ज्ञान कराना मात्र, इन कथनों का उद्देश्य है, इनके अलावा कोई और उद्देश्य नहीं है, अन्य सब पर से दृष्टि हटाकर उन तक लाना, जिससे कि हम हर किसी को, किसी के कार्य का कर्ता न कहें, हर किसी पर दोषारोपण ना करें एवं हमें अपने भले कार्य के प्रति यदि कृतज्ञता ज्ञापित करना है; तो जो हमारे भले कार्य होने के समय उपस्थित थे, जिन्होंने हमारा अच्छा हो, यह चाहा था, हमारा अच्छा हो इसके लिए जिन्होंने प्रेरित किया था, ऐसे निश्चित व्यक्ति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की जा सके। यह अभिप्राय हमारे समझ में आना चाहिए।

2. 'कोई किसी का कर्ता नहीं है, यह परमार्थ सत्य है।'

पहले कहे गये वे औपचारिक कथन थे, निमित्त का ज्ञान कराने के कथन थे, व्यवहार नय के कथन थे; परन्तु कोई किसी का भला-बुरा, लाभ-हानि, ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता, यह परमार्थ कथन है। यह जैनधर्म का सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्त है। इसे ही अकर्तावाद, वस्तु स्वातंत्र्य कहा जाता है।

पूर्वोक्त कथन औपचारिक व्यवहार नय के क्यों हैं? परमार्थ क्यों नहीं हैं? इस पर विचार अपेक्षित है -

जब कहा गया कि महावीर भगवान की वाणी के कारण जीव परिवर्तित हुए, यदि यही परमार्थ कथन हो तो सभी जीव परिवर्तित क्यों नहीं हुए?

क्योंकि उनकी योग्यता नहीं थी।

और जो परिवर्तित हुए, वे क्यों हुए?

क्योंकि उनकी योग्यता थी।

Created by Universal Document Converter

उन योग्यताधारियों में भी कुछ उनके ही समय में केवली भगवान बन गए, कुछ आचार्य बन गए, कुछ सम्यग्दृष्टि बनकर स्वर्ग में चले गए ऐसा क्यों ?

क्योंकि जिसकी जैसी योग्यता थी, उस रूप कार्य हुआ, जबकि सभी के लिए भगवान तो वही थे, वाणी भी वही थी।

इसी प्रकार जब अयोध्या या समवसरण की रचना होनी थी तब वह अपनी स्वतंत्रता से हुई, मात्र इन्द्र को उस समय राग आया। इस समय वह चाह कर भी रचना नहीं कर सकते और सच में ना सदा ही उनको ऐसी चाह भी होती है। जिस समय तीर्थंकर के जीव का जन्म होने वाला हो, जिस समय वहाँ रचना की आवश्यकता हो, उसी समय उनको राग भी आता है और उस राग के कारण उन्होंने रचना की – ऐसा कहा जाता है।

जो ग्रन्थ रचना जब होना थी, तब अपने स्व काल में हुई; परन्तु आचार्यदेव को लिखने का भाव आया, तदनुसार लेखनी चली, अतः कहा जाता है कि उन्होंने रचना की।

जिस समय गिलास फूटना था, उसी समय बच्चे का धक्का लगा। जब-जब धक्का लगता है, तब-तब गिलास फूटता ही है – ऐसा नहीं है और जब-जब गिलास फूटता है, तब-तब बच्चे का धक्का लगता है – ऐसा भी नहीं है।

आप अपने आस-पास स्वतंत्रता से होते हुए कार्यों को देखें। सारा देश, पूरा प्रशासन कोरोना को मिटाने के लिए लगा हुआ है परन्तु जहाँ-जहाँ फैलना है, फैल रहा है और जहाँ रुकने का अवसर आया, वहाँ रुक गया।

जब कोरोना फैलना रुक गया तब कहा जा रहा है कि उन्होंने रोका; क्योंकि उन्होंने रोकने का राग किया था; परन्तु फैलाने की इच्छा किसी

Created by Universal Document Converter

की नहीं है, इसलिए रोग फैलते हुए भी, किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति को हम उसका कर्ता ना कहकर प्रकृति/भाग्य/कर्म/किस्मत को उसका कर्ता कहते हैं।

कोई किसी को सच में ग्रहण करता ही नहीं है; क्योंकि किसी जीव में अन्य पदार्थ प्रवेश करता ही नहीं है, तो उनका त्याग भी नहीं होता, मात्र उनके प्रति अपनेपन का राग था, उसका त्याग किया, तभी कहा जाता है 'इन्होंने राजपाट छोड़ा या मकान छोड़ा या यह भोजन करना छोड़ा या परिवार को छोड़ा।'

परिवार तो जहाँ था, वहीं है, राजपाट जहाँ था वहीं है, बस अपनेपन एवं राग के त्याग करने को 'उन्होंने त्यागा' ऐसा कहा जाता है।

इस तरह दोनों कथनों के यदि हम सही दृष्टिकोण समझते हैं, तो हमारी मति कभी भी भ्रमित नहीं होगी।

उक्त दो प्रकार के कथनों में एक औपचारिक कथन है, व्यवहार नय का कथन है, नैतिकता बनाए रखने के लिए कथन है और दूसरा वस्तु स्वरूप के वास्तविक स्वरूप को बताने वाला कथन है।

औपचारिक कथन किया जा सकता है, सुना जा सकता है, पढ़ा जा सकता है, यही कथन अधिक होते हैं; परन्तु 'ऐसा ही है' यह माना नहीं जा सकता, यदि 'ऐसा ही है' मानेंगे तब मिथ्यात्व होगा, ये कथन मात्र लोक व्यवहार के लिए उपयोगी हैं, आत्मानुभूति के लिए नहीं। और परमार्थ कथन कहा-सुना बहुत कम जाता है; परन्तु उसे सत्य मानने से ही सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची श्रद्धा होती है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

5

जीव और शरीर भिन्न या अभिन्न?

'शरीर को देखकर मनुष्य-तिर्यंच जीव कहना और शरीर से भिन्न जीव कहना।'

हम शरीर की रचना को देखकर ही, जीव का कथन पढ़ते/सुनते हैं जैसे –

'आदिनाथ भगवान 500 धनुष ऊँचाई वाले थे।'

'महावीर भगवान कंचन वर्ण के थे।'

'मनुष्य जीव, तिर्यंच जीव।'

'एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय जीव। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध जीव।'

'यह जीव मर गया।'

'जीवों की रक्षा करना चाहिए।'

इस तरह जिनवाणी और लोक में हम प्रतिदिन व्यवहार करते हैं, यही बातें सुनते हैं और इसी तरह परस्पर बातें करते हैं।

उक्त कथन करने का जिनवाणी का क्या दृष्टिकोण है –

1. जीव अमूर्तिक है, वह हमें दिखाई नहीं देता, संसार अवस्था में वह किसी ना किसी शरीर में ही होता है; अतः शरीर को जीव कहा जाता है; क्योंकि यदि शरीर को जीव ना कहा जाए तब हम जीव को समझ ही नहीं सकेंगे।

अ. अहिंसा का पालन करने के लिए शरीर को देखकर ही जीव कहा जाना आवश्यक है, शरीर देखकर ही चींटी, मक्खी, मच्छर से लेकर सांप, बिच्छू, कुत्ता, बिल्ली आदि को जीव कहकर उन पर दया

Created by Universal Document Converter

करने का उपदेश, जिनवाणी में किया गया है, उनकी रक्षा करने का सन्देश हमें दिया गया है, यदि शरीर को जीव ना कहा जाए, तो जिस प्रकार कोयला-मिट्टी आदि को हम मसल देते हैं, उसी प्रकार किसी शरीर को भी मसल देंगे और हम हिंसा नहीं मानेंगे; क्योंकि शरीर तो जीव नहीं है और जीव तो दिखता नहीं है; इसलिए अहिंसा धर्म का पालन करने के लिए शरीर को जीव कहा गया।

आ. यह जीव वर्तमान में किस शरीर में ? किस प्रकार के शरीर में है ? उसकी जानकारी देने के लिए भी, शरीर को देखकर जीव कहा जाता है।

जिस तरह लोक में जिस गिलास में दूध होता है, उस गिलास को उठाने या उसकी रक्षा करने के लिए, हम उस गिलास को ही दूध कहते हैं कि 'दूध ले आइए', यह सुनकर हम गिलास उठा कर लाते हैं।

'दूध देखकर रखना!' हम गिलास देख करके रखते हैं।

जिस थैले में सब्जी होती है, उस थैले को सब्जी कहते हैं।

जिस डिब्बे में शक्कर होती है, उस डिब्बे को शक्कर कहते हैं।

इसी प्रकार जिस समय आदिनाथ भगवान हुए उस समय वे 500 धनुष के विशाल शरीर में थे।

महावीर भगवान कंचन वर्ण के शरीर में थे। जो मनुष्य के शरीर में है, उसे मनुष्य और जो पशु के शरीर में है, उसे पशु कहा जाता है।

मनुष्य में भी जो स्त्री का शरीर निश्चित किया गया है/जाना गया है उस शरीर में है, तो उसे स्त्री और पुरुष के शरीर में है, तो पुरुष कहा जाता है।

इसी तरह बालक-वृद्ध का भी प्रयोग किया जाता है।

Created by Universal Document Converter

जिस समय हमें शरीर में एक स्पर्शन इन्द्रिय ही प्राप्त है, तो एक इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रियाँ है तो तीन इन्द्रिय जीव और पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त हो गई हैं, तो पाँच इन्द्रिय जीव कहा जाता है।

बस, इसी प्रकार से जिस शरीर में जीव होता है, उसे भी जीव कहा जाता है, उसके बिना इस संसार में हमारी पारस्परिक दिनचर्या संभव ही नहीं हो सकेगी।

पानी छानकर पीना, देख कर चलना, अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करना इत्यादि जो भी उपदेश दिए गए हैं, वे सभी शरीर सहित जीव को ही देख कर कहे जाते हैं/ किए जाते हैं और शरीर को देखकर ही गोरा-काला-मोटा-पतला-ठिगना-कमजोर-मजबूत इत्यादि अनेक व्यवहार किए जाते हैं और हम उस व्यक्ति की उस रूप में पहचान कर पाते हैं। ये सभी व्यवहार नय के कथन हैं/औपचारिक कथन हैं/ संयोग को देख कर कथन हैं।

2. ''शरीर जीव नहीं है, शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, यह वास्तविक कथन है/परमार्थ कथन है।''

जिस तरह गिलास में दूध है, गिलास दूध नहीं है। गिलास की विशेषता अलग है, दूध की विशेषता, गुण, शक्ति अलग।

थैले में सब्जी है, थैला सब्जी नहीं है। थैले के गुण धर्म अलग हैं, सब्जियों के अलग।

डिब्बा में शक्कर है, डिब्बा शक्कर नहीं है। डिब्बे के गुण धर्म अलग हैं, शक्कर के अलग।

उसी तरह शरीर में जीव है; शरीर जीव नहीं है। शरीर के गुण धर्म स्पर्श-रस-गंध-वर्ण, बढ़ना-घटना-गलना है और जीव का गुणधर्म ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र है।

Created by Universal Document Converter

दोनों एक साथ रहते हैं; परन्तु दोनों एक नहीं हैं।

जिस छिलके के साथ दल वाला केला होता है, उस छिलके को भी केला कहा जाता है; परन्तु सच में छिलका अलग है और जो खाने योग्य पदार्थ है, वह केला अलग है और वही वास्तविक केला है।

इसी प्रकार ज्ञान–दर्शन स्वभावी जीव इस गोरे/काले /स्त्री/पुरुष के शरीर में रहते हुए भी शरीर से भिन्न हैं। जीव के गुण/लक्षण से जीव की पहचान की जा सकती है। जैसे – 2 लीटर दूध में हम पहचान कर सकते हैं कि वास्तविक दूध कितना है अर्थात् मावा कितना निकलेगा ? हम मावा निकालेंगे समय आने पर ही; परन्तु उसके लक्षण से पहचान कर सकते हैं कि 2 लीटर में 200 ग्राम या 300 ग्राम मावा निकलेगा।

उसी प्रकार शरीर से भिन्न तो आत्मा, समय आने पर ही होगा; परन्तु उसके लक्षणों से भिन्न वर्तमान में ही जाना जा सकता है।

हम शरीर को ही आत्मा मानकर उसके ही पोषण में, उसके ही साज–श्रृंगार में, उसके संभालने में ही अपना जीवन अनादि काल से लगाते आ रहे हैं, इसलिए जिनवाणी निश्चय से वास्तविक कथन करते हुए कहती है कि शरीर में जीव है पर शरीर जीव नहीं है। हम जीव हैं, अतः हम अपने ज्ञान/श्रद्धा/चारित्र की संभाल करें।

जैसे – जिस थैली में सब्जी है या जिस गिलास में दूध है या जिस डिब्बे में शक्कर है, हम उस थैले गिलास या डिब्बे की भी संभाल करते हैं; परन्तु वह संभाल उसमें रखी हुई सामग्री के महत्त्व को जानते हुए करते हैं; यदि उसमें से वह सामग्री निकल जाए तो थैली, डिब्बा या गिलास कौन संभालता है ? खाली थैली, गिलास किस जगह पड़े रहते हैं, कौन देखता है ? जब तक उसमें वह सामग्री है, तब तक हम उसकी भी संभाल करते हैं।

Created by Universal Document Converter

उसी प्रकार हम शरीर के रोग की चिंता यथायोग्य करें, परन्तु शरीर से भी अधिक आत्मा के रोग–मोह, राग, द्वेष, जन्म, जरा, मृत्यु, क्षुधा आदि हैं, उनको दूर करने के लिए तत्त्वज्ञान रूपी औषधि सेवन करने का उपाय करें। इसलिए भेदविज्ञान कराने के लिए शरीर से भिन्न आत्मा कहा जाता है।

जो प्रथम कथन है अर्थात् 'शरीर जीव है, हम मनुष्य, स्त्री, पुरुष, गोरे, काले हैं' यह कथन किया जा सकता है /सुना जा सकता है और अधिकांशतः यही कथन किए जाएंगे; परन्तु ऐसा ही मानने पर, ऐसा ही श्रद्धान कर लेने पर मिथ्यात्व/अज्ञान बना रहता है।

'शरीर से भिन्न ज्ञान–दर्शन स्वभावी आत्मा है' ऐसा कथन जिनवाणी से ही कभी–कभी सुना जा सकता है, आपस में बहुत कम इसके प्रयोग किए जाते हैं, परन्तु यही विश्वास करने योग्य है – ऐसा ही मानने से सम्यक् दर्शन होता है; क्योंकि यही वास्तविक कथन है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए – शरीर को जीव/आत्मा कहने से मिथ्या दर्शन/अज्ञान नहीं होता। शरीर को जीव कहने के कथन पूरी जिनवाणी में हैं; परन्तु वैसा ही मानने पर मिथ्यादर्शन होता है। इसलिए हम इस दृष्टिकोण को समझते हुए, लोक व्यवहार में/परस्पर में शरीर को देखकर बात करें, व्यवहार करें, स्त्री–पुरुष का भेद करें, जीवों की रक्षा करें; परन्तु वह शरीर ही जीव है या आत्मा स्त्री–पुरुष हो गया – ऐसा कभी माने नहीं। यही दोनों कथनों का दृष्टिकोण/अभिप्राय है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

6

जीव शरीर की क्रिया का कर्ता या अकर्ता ?

'शरीर की क्रिया/कार्य का कर्ता आत्मा को कहना एवं शरीर की क्रिया/कार्य का कर्ता आत्मा नहीं है – ऐसा कहना।'

1. लोक में व जिनवाणी में शरीर के कार्य को 'जीव के द्वारा किया गया' अथवा 'जीव ने किया' – ऐसे ही कथन किए जाते हैं जैसे –

''शरीर के गोरे-काले, मोटे-पतले होने से जीव को गोरा-काला मोटा-पतला कहना।''

''शरीर के द्वारा भोजन ग्रहण करने को जीव ने भोजन ग्रहण किया।''

''जीव ने हथियार चलाए।''

''जीव दौड़ा-भागा, हाथ हिलाया।''

''शरीर को पुष्ट किया, शरीर को स्वस्थ किया इत्यादि।''

इसके पहले हमने जो चर्चा की वह शरीर और जीव को एक मान करके, एकत्व दिखलाने वाले कथनों के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में थी।

इस चर्चा में शरीर की क्रिया को देखकर 'जीव ने यह काम किया' – ऐसा कहा जाना अर्थात् कर्तृत्व संबंधी दृष्टिकोण को समझेंगे।

चलना-फिरना, किसी भी वस्तु को उठाना, रखना, मारना, बचाना, शरीर का गोरा-काला होना, बाल सफेद होना, शरीर का स्वस्थ होना -रहना यह सब कार्य जीव करता है – ऐसे प्रयोग जिनवाणी में हैं और लोक में भी किए जाते हैं ।

'आचार्यदेव ने समझाया' – यहाँ आचार्यदेव को वाणी का कर्ता कहा जा रहा है। हमने पूजन की, ताली बजाई, सामान उठाया-रखा,

Created by Universal Document Converter

सावधानीपूर्वक रखा, पुण्य होगा, असावधानी पूर्वक रखा, पाप होगा इत्यादि जो कार्य हैं वे शरीर के होते हुए भी जीव ने किए – ऐसा कहा जाता है; क्योंकि जीव, शरीर में रह रहा है, दोनों एक साथ रह रहे हैं।

भोजन करने का भाव हुआ और शरीर की योग्यता से हाथ से भोजन उठा और मुँह के माध्यम से पेट में पहुँचा, तो कहा जाता है ''जीव ने भोजन किया, जीव ने पानी पिया।''

जीव हाथ हिलाने, उठाने, जीवों को मारने–बचाने का भाव करता है और उसके अनुसार हाथ–पैर चलाना चाहता है तभी स्वयं की योग्यता से हाथ–पैर चले इसलिए कहा जाता है कि 'जीव ने हाथ–पैर चलाए।'

जीव को पूजन करने के भाव हुए, सामग्री चढ़ाने के भाव हुए अथवा स्वाध्याय करने के लिए जिनवाणी उठाने, विराजमान करने के भाव हुए तदनुसार हाथ चलाए, सामग्री उठाई–रखी, इसलिए कहा जाता है कि 'जीव ने सामग्री चढ़ाई।'

पूर्वोक्त कार्यों को 'जीव ने किये' कहा जाता है, क्योंकि दोनों ही एक साथ हैं और जीव के भावों के अनुसार अधिकांशतः उनका परिणमन अर्थात् उनका कार्य हो रहा है। जैसे हम जो कपड़े पहनते हैं, वे कपड़े गंदे हो जाएं, तो हम यही बोलते हैं कि 'मैं गंदा हो गया।' पैर में कीचड़ लगे, तो 'मुझे कीचड़ लग गया'; क्योंकि वे कपड़े हमने पहने हुए हैं या उसी शरीर में हम रह रहे हैं।

इस तरह पारस्परिक संयोग देखकर, 'निमित्त–नैमित्तिक' सम्बन्ध देखकर; उनमें 'कर्ता–कर्म' सम्बन्धी व्यवहार, लोक में किया जाता है और जिनवाणी में भी व्यवहार नय से – ऐसे कथन किए जाते हैं।

2. 'जीव शरीर की क्रिया/कार्य का कर्ता नहीं है' – ऐसा कहना यह परमार्थ कथन है/वास्तविक कथन है/सच्चा कथन है; क्योंकि भले ही

Created by Universal Document Converter

जीव शरीर में रहता हो, जीव और शरीर एक साथ रहते हों, एक क्षेत्र में रहते हों; परन्तु दोनों ही भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं।

जानने-देखने और सुख-दुख का अनुभव करने वाला जीव है, गोरा-काला, मोटा-पतला होने वाला शरीर है।

जीव जब हाथ-पैर चलाने के भाव करता है और उसी समय हाथ-पैर चलने की योग्यता हो तो वे चलते हैं - ऐसा देखकर कहा जाता है कि 'जीव ने हाथ-पैर चलाए', 'जीव ने पूजन की', 'जीव ने सामग्री चढ़ाई'; परन्तु सच में शरीर का कार्य जीव के विचारों के अधीन नहीं है। अनेक बार ऐसा होता है कि -

जब हम हाथ हिलाना चाहते हैं, लेकिन हिलता नहीं है,

बाल काले रखना चाहते हैं; परन्तु काले रहते नहीं है,

बाल सिर पर रखना चाहते हैं परन्तु सारे झड़ जाते हैं;

दांत सफेद रखना चाहते हैं, पर वह पीले हो जाते हैं;

हम दौड़कर जल्दी पहुँचना चाहते हैं; परन्तु चल भी नहीं पाते।

हम किसी को बुलाना चाहते हैं; परन्तु मुँह से आवाज भी नहीं निकलती,

हम बोलना कुछ चाहते हैं और शब्द कुछ निकल जाते हैं,

हम स्वस्थ रहना चाहते हैं, परन्तु बीमार हो जाते हैं।

हम दुबला होना चाहते हैं और प्रयास करते हैं; परन्तु और मोटे होते चले जाते हैं।

हम सुन्दर रहना चाहते हैं, परन्तु शरीर विकृत हो जाता है।

हम चेहरे पर मुंहासे नहीं चाहते, परन्तु वे आ जाते हैं।

उक्त उदाहरण हमारे लिए बतलाते हैं कि जीव और शरीर दोनों

Created by Universal Document Converter

ही भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, दोनों का कार्य अपने-अपने में स्वतंत्रता से हो रहा है।

दोनों साथ में रहते हैं, इसलिए कभी जीव के कार्य को शरीर का और कभी शरीर के कार्य को जीव का कहा जाता है; परन्तु सच में दोनों के कार्य अलग-अलग हैं। जैसे -

जानता जीव है; पर हम ऐसा प्रयोग करते हैं कि आँख ने जाना, कान ने जाना, नाक ने जाना।

मोटा-पतला, गोरा-काला अथवा हिलना- डुलना आदि कार्य शरीर के हैं; लेकिन कहा जाता है कि जीव गोरा- काला हुआ या हाथ-पैर हिलाए। इस प्रकार का लोक व्यवहार किया जाता है, किया जाता रहेगा, ज्यादातर ऐसा ही कहा जाता है; परन्तु हमें यह अच्छी तरह समझना चाहिए कि दो द्रव्यों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं, एक के द्वारा दूसरे का कार्य सच में नहीं होता, बस सहज संयोग है, जो यह कार्य एक साथ हो रहे हैं।

पहला कथन - जीव ने कार्य किए, ताली बजाई, जीव रक्षा की, शरीर स्वस्थ रखा, भोजन व पूजन की, ऐसा कहा जाता है, कहा जाता रहे, तो कोई दोष नहीं है; पर ऐसा ही मान लिया जाए, जीव को ही इन कार्यों का कर्ता माना जाए (अज्ञान दशा में हम अभी ऐसा ही मान रहे हैं) तो मिथ्यात्व रहता है और जीव का कार्य मात्र जानना-देखना है, पूजन, भोजन-भजन के जो भाव हुए हैं, वे जीव के राग भाव हैं और शरीर का हिलना, डुलना, चलना, गाना, बजाना, बोलना, दौड़ना, भागना, मोटा-पतला होना यह कार्य पुद्गल के हैं, जो पूर्णतः जीव से भिन्न हैं, सच में यह कार्य जीव के नहीं हैं जीव के द्वारा नहीं हैं, ऐसा मानने से सम्यग्दर्शन होता है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

7

आत्मा रागादि भावों से अभिन्न या भिन्न ?

'आत्मा को मोही-रागी-द्वेषी-क्रोधी-मानी-लोभी-मिथ्यादृष्टि कहना और आत्मा मोह-राग-द्वेष भावों से भिन्न ज्ञान स्वभावी ही है अर्थात् ज्ञानी ही है' - ऐसा कहना।

1. संसार अवस्था में जीव मोह-राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व आदि भावों सहित ही दिखाई देता है। यह राग-द्वेष के भाव मकान-दुकान, सोना-चाँदी, शरीर आदि में नहीं होते, अपितु जीव के ही चारित्र गुण का विकार है। यह जीव के ही चारित्र गुण की विपरीत पर्याय है/विभाव है; इसलिए जैसे रोग सहित मनुष्य को रोगी कहा जाता है; क्योंकि वह रोग कपड़ों में नहीं; बल्कि उस मनुष्य के शरीर में ही हुआ है। इसी प्रकार यह राग-द्वेष भाव जीव के ही विपरीत परिणाम हैं, उसकी ही अज्ञानता से होने वाले विभाव भाव हैं; इसलिए द्रव्य और पर्याय को अभेद करके जैसे धन सहित जीव को धनी/रोग सहित जीव को रोगी कहते हैं, वैसे ही राग सहित जीव को रागी, द्वेष सहित जीव को द्वेषी, मिथ्यात्व सहित जीव को मिथ्यादृष्टि, लोभ सहित जीव को लोभी, क्रोध सहित जीव को क्रोधी कहा जाता है, जिससे कि यह ज्ञात हो कि यह दोष इसी जीव के हैं; यह दोष शरीर के नहीं हैं, परिवार वालों के नहीं हैं। इन दोषों का फल इस जीव को ही भोगना होगा।

वर्तमान अवस्था में यदि दोष हैं तो 'जीव ही दोषी है'; इस तरह द्रव्य और पर्याय को (वर्तमान अवस्था को देखते हुए) अभेद करके कथन किया जाता है।

जीव को मोही-रागी-क्रोधी-मानी कहकर - ऐसा ही जीव मानने के लिए नहीं कहा जाता है; अपितु 'ये दोष मुझमें हैं' अन्य के द्वारा किए गए नहीं हैं - ऐसा मानकर निर्दोष होने के लिए, उन दोषों को स्वीकार कराया जाता है।

Created by Universal Document Converter

2. द्वितीय पक्ष यह है कि मोह-राग-द्वेष आदि भाव जीव का स्वभाव नहीं है, राग-द्वेष भाव अनादि-अनंत नहीं हैं, राग-द्वेष भाव अकारण नहीं हैं, ये जीव के स्वभाव से मेल नहीं खाते, ये उत्पन्न भी होते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं, ये भाव दुखद हैं; इसलिए जीव इनसे भिन्न स्वभाव वाला अर्थात् ज्ञान स्वभावी है, अनादि अनंत है, सुखद है, इसका जन्म और नाश नहीं होता, यह किसी कारण से नहीं है; इसलिए जीव द्रव्य को उस विकारी पर्याय से भिन्न देखते हुए द्रव्य स्वभाव की दृष्टि से यह कहा जाता है कि आत्मा मोह-राग-द्वेष-क्रोध आदि भावों से भिन्न है, वह रागी नहीं, द्वेषी नहीं, क्रोधी नहीं, मानी नहीं अपितु ज्ञानी ही है ज्ञान स्वभावी ही है।

'जीव रागी-द्वेषी नहीं है' यह कथन जीव को पर्याय में रागी-द्वेषी बने रहने के लिए नहीं किया गया है; अपितु अपने को निर्दोषी स्वीकार कर, निर्दोष आत्मा को मानकर, पर्याय में भी निर्दोष दशा प्रकट करने के लिए ही कहा गया है।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि हम प्रथम पक्ष के कथन को ही अधिकांशत: सुनते हैं/कहते हैं/पढ़ते हैं/परस्पर में व्यवहार करते हैं और इस सांसारिक जीवन में ऐसा ही होता रहेगा; परन्तु यह वस्तु का सच्चा स्वरूप नहीं है, यह मानने योग्य नहीं है, मात्र 'कहने और जानने योग्य है'। यदि हम आत्मा को मोही रागी-द्वेषी अशुद्ध ही मानेंगे, तो कभी भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होगी, अशुद्धता का नाश नहीं होगा।

द्वितीय पक्ष जो राग-द्वेष होते हुए भी - 'राग-द्वेष जीव की पर्याय में हैं', कर्म के उदय से हैं, उत्पन्न हुए हैं और नष्ट हो जाएंगे; जीव परोन्मुखी दृष्टि करता है; इसलिए राग-द्वेष होते हैं, जब अपने स्वभाव को जीव जानता है, तो उनका अभाव हो जाता है। इसलिए स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो आत्मा रागी-द्वेषी नहीं, ज्ञानी ही है/ज्ञान स्वभावी है/आनंद स्वभावी है - ऐसा वस्तुस्वरूप मानने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है अर्थात् अपने संबंध में सच्ची समझ होती है। इस सच्ची समझ बिना ही हम चार गतियों में परिभ्रमण कर रहे हैं। जिनवाणी में जो कथन आए हैं, उनके दृष्टिकोण समझ कर ही हम, अपनी समझ सच्ची कर सकते हैं। ❀❀❀

Created by Universal Document Converter

8

आत्मा रागादि भावों का कर्ता या अकर्ता ?

'आत्मा को मोह-राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ आदि भावों का कर्ता एवं इन्हीं भावों का अकर्ता भी कहना।'

1. हम जिनवाणी में पढ़ते हैं, प्रवचनों में सुनते हैं, आपस में व्यवहार करते हैं कि 'पाप करने के फल में जीव नरक जाता है।'

'क्रोध करना अच्छा नहीं है।'

'यह आदमी बहुत गुस्सा करता है।'

'यह व्यक्ति बहुत घमंड करता है/अहंकारी है।'

'यह बहुत लोभी है।'

'हमें अशुभ राग नहीं करना चाहिए, शुभ राग करना चाहिए।'

'राम-लक्ष्मण परस्पर में बहुत राग करते थे।' इत्यादि।

इस प्रकार हम अनेक कथन सुनते हैं, जिनका भाव यही समझ में आता है कि आत्मा या जीव मोह-राग-द्वेष आदि भाव का कर्ता है। जिनवाणी में यह कथन व्यवहार नय से अथवा अशुद्ध निश्चय नय से किया गया है।

ये मोह-राग-द्वेष भाव जीव में ही होते हैं; अन्य जड़ पदार्थों में अर्थात् मकान-दुकान, भोजन, सोना-चांदी, कुर्सी-टेबल, मोबाइल-कम्प्यूटर इत्यादि पदार्थों को न तो किसी के प्रति राग होता है, न द्वेष होता है, न गुस्सा आता है, बल्कि इन पदार्थों के कारण से जीव को ही यदि वे पदार्थ अच्छे लगते हैं तो इनसे प्रेम होता है और यदि वे बुरे लगते हैं, दुखदायक लगते हैं; तो इनसे क्रोध होता है, इनसे द्वेष होता है अतः गुस्सा करने वाला जीव ही है।

जीव पाप भाव करके अर्थात् बुरे कार्यों से प्रेम करके नरक जाता है और अच्छे कार्यों से प्रेम या राग करके स्वर्ग के फल को भोगता है,

Created by Universal Document Converter

इसलिए जिनवाणी में यह कहा गया है कि 'इन राग-द्वेष आदि भावों का करने वाला जीव ही है।'

प्रथमानुयोग की कहानियों में इन राग-द्वेष का वर्णन किया गया है। किस जीव ने किससे राग करते हुए नौ-नौ भव तक प्रेम को निभाया या द्वेष करते हुए कितने भवों/जन्मों तक बैर भाव निभाया।

राम-लक्ष्मण-सीता, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर इत्यादि जीवों के वर्णन सर्वत्र लिखे हुए हैं।

यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि यह कथन कि - 'जीव राग-द्वेष का कर्ता है' यह कहकर त्रिकाली ज्ञायक भाव को भावरूप जीव को रागादि भावों का कर्ता सिद्ध नहीं करना है; बल्कि राग-द्वेष के अलावा बाहर में किसी पदार्थ का करने वाला जीव नहीं है, यह बताना इस कथन का मुख्य उद्देश्य है।

2. 'मोह-राग-द्वेष भावों का आत्मा को अकर्ता कहना; क्योंकि परमार्थरूप द्रव्यदृष्टि से जीव मात्र ज्ञायक भावरूप है, अतः यह परमार्थ कथन है, वास्तविक कथन है।' जीव का कार्य वास्तव में मात्र जानना है। राग-द्वेष भाव जीव में होते हैं; परन्तु ये जीव का स्वभाव नहीं हैं विभाव हैं, विकार हैं।

जैसे - मनुष्य को रोग हो जाता है, तो इस व्यक्ति ने बुखार चढ़ा लिया, इस व्यक्ति ने हार्ट फेल कर लिया या टी.वी. या शुगर की बीमारी कर ली, यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि रोग शरीर में उत्पन्न हुआ है; परन्तु वह शरीर का विकार है, वह उसका स्वभाव नहीं है, सही काम नहीं है, इसलिए मनुष्य उस बीमारी का कर्ता नहीं कहा जाता।

इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव मात्र जानना-देखना है, राग-द्वेष करना यह जीव का स्वभाव नहीं है। जब हम 'मात्र जानना मेरा काम है' - ऐसा नहीं मानते और बाहर के पदार्थ अच्छे या बुरे लगते हैं तो राग-द्वेष होता है, इसलिए जिनवाणी में कहा गया कि ये सब भाव कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं, जीव का स्वभाव नहीं हैं; इसलिए आत्मा अकर्ता है अर्थात्

Created by Universal Document Converter

इन भावों को करना जीव का परमार्थ स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है, मात्र 'जगत के होते हुए परिणाम को जानना', यह जीव का काम है।

मोह-राग-द्वेष आदि भाव, कर्म के उदय से होते हैं, जीव के अनुसार नहीं। हमने स्वयं अनुभव किया होगा कि हम कभी गुस्सा करना चाहते हैं, पर गुस्सा आता नहीं है और हम कहते भी हैं कि 'देखो मुझे अभी गुस्सा नहीं आ रहा, यदि आ गया तो ठीक नहीं होगा।'

कभी हम मन्दिर में बहुत अच्छे से पूजन करना चाहते हैं; पर हमारा पूजन में मन नहीं लगता। हम स्वाध्याय करना चाहते हैं; पर स्वाध्याय अच्छा नहीं लगता, प्रवचन सुनने में मन नहीं लगता।

यह तो शुभ भावों की बात हुई, इसी प्रकार भोजन करने, पिक्चर देखने, कपड़े पहनने आदि में भी हमेशा एक जैसा भाव अर्थात् राग-द्वेष नहीं होता, इसलिए यह सिद्ध होता है कि यह सब भाव कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं, जीव का कार्य नहीं हैं।

यदि जीव को वर्तमान अवस्था में क्रोध-मान के भाव हो रहे हैं, तो उनको भी जानना जीव का स्वरूप है, स्वयं को उनका कर्ता मानना जीव का स्वरूप नहीं है।

यदि हम प्रथम कथन के अनुसार अपने को राग-द्वेष भावों का कर्ता मानते हैं, उन भावों को अपना कर्म अर्थात् कार्य मानते हैं, तो यह परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है और अनंतकाल तक चलती रहेगी जिसका फल संसार और दुख ही है। अपने मूल स्वभाव 'जानना' को छोड़कर, राग-द्वेष को अपना कर्म मानना, यह मिथ्यादर्शन है।

दूसरे कथन के अनुसार जीव को राग-द्वेष का कर्ता नहीं, मात्र जानना मेरा काम है, मेरा 'ज्ञाता' स्वभाव है, ऐसा 'मानना' यह वस्तुस्वरूप का सही मानना है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। ऐसा मानने से पर-पदार्थों में किसी को अच्छा, किसी को बुरा, जानना-मानना, किसी को हटाओ, किसी को बुलाओ, किसी को तोड़ो, किसी को छोड़ो यह सारे विकार/विचार भी समाप्त होने लगते हैं। ❁❁❁

Created by Universal Document Converter

9

शुभभाव - मोक्ष या बंध का कारण ?

'पूजा-यात्रा-दान-स्वाध्याय-व्रत-तप आदि भाव धर्म हैं, मोक्ष का कारण हैं एवं यह सभी भाव, पुण्य बंध के कारण हैं, संसार के कारण हैं।'

1. हम जब भी चरणानुयोग के शास्त्रों को पढ़ते हैं/सुनते हैं तो यह बहुत ही स्पष्टता के साथ पढ़ने व सुनने को मिलता है कि "जिनेन्द्र भगवान की पूजन करना, पंच परमेष्ठियों का गुण स्मरण करना, चार प्रकार का दान करना, अणुव्रत आदि धारण करना, पापों का त्याग करना, अनशन आदि तप करना ये सभी कर्मों के अभाव के कारण हैं, मुक्ति के कारण हैं, ये सभी धर्म हैं; अतः हमें अवश्य धारण करना चाहिए।"

अ. यह सब कहने का अभिप्राय आचार्य भगवन्तों का यह है कि - इन भावों के अलावा तो कहीं धर्म हो ही नहीं सकता अर्थात् पाप करने, हिंसा करके धर्म मानने, रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को पूजने-मानने, विषय-भोगों में लगे रहने में तो धर्म है ही नहीं और ना ये कभी धर्म या सुख-शान्ति के कारण हो सकते हैं; अतः दया-दान-पूजन आदि भावों को धर्म कहकर, शान्ति का कारण कहकर सबसे पहले तो उन पापों और विषय-भोगों में हमारी जो सुख बुद्धि है/सुख की मान्यता है, उसको हटाया। इस तरह अशुभ राग/प्रवृत्ति से हटाकर शुभ राग/प्रवृत्ति में लाए।

आ. जिन मन्दिर/स्वाध्याय भवन में आने पर, जब हम पंच परमेष्ठियों के गुणानुवाद करते हैं, जिनेन्द्र परमात्मा के दर्शन करते हैं, तब हमें जिनेन्द्र परमात्मा की वीतरागता/सर्वज्ञता, उनका सुख समझ में आता है। तब यह प्रश्न भी अन्दर में खड़ा होता है कि इनके लिए यह सब कुछ किसने दिया ?

Created by Universal Document Converter

विचार करने पर या विद्वज्जनों से पता चलता है कि जैन दर्शन में वरदान या आशीर्वाद की परम्परा ही नहीं है। यहाँ कोई किसी को भगवान बना सकता हो/सुख दे सकता हो - ऐसा विधि-विधान ही नहीं है। इन्होंने जो वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट की है, जो सिद्ध परमात्मा ने सिद्ध दशा प्राप्त की है, वह उन्होंने आत्मा के आश्रय से ही प्राप्त की है।

इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मुझे सुख प्राप्त करना है /कर्मों से मुक्त होना है; तो मुझे भी निज आत्मा को जानना होगा।

उन्होंने सभी से दृष्टि हटाकर, अशुभ राग छोड़कर और शुभ राग का भी परित्याग कर वीतरागता प्राप्त की, उससे ही उन्हें अरिहन्त-सिद्ध दशा प्राप्त हुई और आचार्य-उपाध्याय-साधु के जीवन में भी जितनी वीतरागता है, उतना उनको सुख है, तो मुझे भी यदि सुख प्राप्त करना है, धर्म प्राप्त करना है; तो वीतरागता को प्रकट करना होगा।

इस तरह आत्मानुभूति/वीतरागता रूप जो वास्तविक धर्म है, उसकी प्राप्ति, हमें जिन मन्दिर में आकर, स्वाध्याय करके, तीर्थ यात्रा, दान आदि की क्रियाएँ करने पर हम पापों से बचकर धर्म समझने की ओर आते हैं, यहाँ आकर हमें वास्तविक धर्म समझने का अवसर मिलता है, इसलिए इन कार्यों को यदि हम वीतरागता/अहिंसा और आत्मानुभूति के लक्ष्य से सुनते हैं/पढ़ते हैं/करते हैं तो इन्हें भी धर्म कहा गया है।

जैसे कि जिस वृक्ष पर आम लगते हैं, उसे भी आम कहते हैं। जिस नगर में हमारा घर हो, उस नगर में बाहर से आने पर हम यही कहते हैं घर आ गया; लेकिन वह स्टेशन या नगर हमारा घर नहीं है, उस नगर में हमारा घर है। वह आम का पेड़, आम नहीं है, उस आम के पेड़ पर आम हैं। इसी तरह जिन कार्यों के करने में, जिन भावों के समय में हमें उस शुद्धभाव/वीतराग भाव/आत्मानुभूति/अहिंसा रूप धर्म को या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग को समझने का अवसर मिलता

Created by Universal Document Converter

है, उसे भी धर्म कहा जाता है।

2. अ. जिनवाणी में इन्हीं भावों के प्रति द्वितीय पक्ष यह है कि 'ये सब भाव पुण्य बंध के कारण हैं।'

पुण्य के बंधन से स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है।

स्वर्ग संसार की एक गति/अवस्था है, इसलिए ये सब भाव संसार के ही कारण हुए और संसार में दुख है; तो सच में ये भी दुख के कारण हैं। अतः धर्म नहीं हैं।

आ. जब पूजा-दान, स्वाध्याय आदि कार्यों को धर्म कहा गया तो हम इससे आगे बढ़ने के लिए तैयार ही नहीं हुए। हम केवल मन्दिर जाने, भक्ति-पूजा-अभिषेक करने में, कुछ दान आदि देने में भले वह नाम के लिए दिया गया हो या अनावश्यक स्थान पर दिया गया हो, लेकिन हमने धर्म मान लिया; क्योंकि जिनवाणी में लिखा हुआ है कि पूजन करना, मुनिराज की सेवा करना, आहार दान करना, व्रतों का पालन करना, दश लक्षण पर्व आदि में अनशन आदि करना धर्म है; इसलिए मैंने धर्म कर लिया और अब तो मानो कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होने वाली है।

तब आचार्य भगवन्त ने कहा कि नहीं! यह धर्म नहीं है। यह शुभराग है, बंध का कारण है। कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं, स्वभाव नहीं हैं, इनके करते-करते वीतरागता प्रकट नहीं होगी। इनका अभाव करके ही वीतरागता/धर्म की प्राप्ति होती है। वीतरागता ही वास्तविक धर्म है, वही सच्चा सुख का मार्ग है, वही कर्मों के अभाव करने का कारण है, वही मुक्ति का कारण है।

मन्दिर जाना धर्म नहीं है, अपने अन्दर जाना धर्म है; परन्तु मन्दिर जाए बिना अन्दर नहीं जा सकते, इसलिए मन्दिर जाने को भी धर्म कहा जाता है।

Created by Universal Document Converter

जैसे कि आम पाने के लिए, आम के पेड़ के पास पहुँचाया जाता है; क्योंकि उस पेड़ पर ही हमें आम मिलेगा।

प्रथम पक्ष को सुनकर यदि हम शुभ भाव/क्रिया को ही धर्म मान लेते हैं और धर्म मानकर करते रहते हैं; तब विचार आता है कि हम तो पढ़ा करते हैं –

"भव-भव में जिन पूजन कीनी, भव-भव में दान दिया, भव-भव में मैं त्यागी हुआ, भव-भव में मैंने शास्त्र पढ़े; परन्तु अपने आत्म गुण की पहचान के बिना हमें सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई।"

यह कार्य तो हमने भव-भव में किए हैं, इसलिए यदि उन्हीं भावों को हम धर्म मान लेते हैं; तो हमारी समझ गलत है, इसीलिए मिथ्यात्व बना रहता है और यदि हम द्वितीय पक्ष को सुनकर/समझकर/स्वीकार करते हैं, उसे ही सही धर्म मानते हैं, अहिंसा अथवा वीतरागता अथवा आत्मानुभूति को ही धर्म स्वीकार करते हैं; तो यही सच्ची समझ है और यही सम्यग्दर्शन है।

प्रथम पक्ष का कथन – पूजा-दान, स्वाध्याय धर्म नहीं हैं, इसका मतलब इन्हें छोड़कर पाप में जाना – ऐसा नहीं है। यह तो कहा ही जा चुका है कि यदि हम आम के पेड़ को नहीं जानते; तो आम भी नहीं मिलेगा। मन्दिर नहीं आएंगे, स्वाध्याय नहीं करेंगे; तो सच्चे धर्म की प्राप्ति होगी ही नहीं, इसलिए गृहस्थ जीवन में प्रथम पक्ष के अनुसार गृहस्थ का जीवन चलता है, उसकी दिनचर्या उस तरह की होती है और द्वितीय पक्ष के अनुसार दृष्टिकोण को समझते हुए, उसी गृहस्थ का श्रद्धान/मान्यता/अभिप्राय समझ होती है।

इस तरह की मान्यता व दिनचर्या होना ही जिन वचनों के दृष्टिकोण को समझने का फल है। यही दोनों नयों का ग्रहण करना है। यही सच्ची समझ है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

10

ज्ञानी-अज्ञानी कहने की अपेक्षाएँ !

जिनवाणी में ज्ञानी-अज्ञानी कहने की कई अपेक्षाएँ हैं।

हम सामान्यतया ज्ञानी माने समझदार या शास्त्रों का जानने वाला और अज्ञानी अर्थात् मूर्ख या शास्त्रों को नहीं जानने वाला समझ लेते हैं। जिनवाणी के आधार से ज्ञानी-अज्ञानी की तीन अपेक्षाएँ/दृष्टिकोण यहाँ पर प्रस्तुत हैं।

1. जिस द्रव्य में ज्ञान पाया जाए, वह ज्ञानी और जो ज्ञान से रहित हो, वह अज्ञानी।

इस दृष्टिकोण से छह प्रकार के द्रव्यों में ज्ञान सहित एकमात्र जीव द्रव्य है। जीवद्रव्य संख्या में अनन्त हैं, अतः सभी जीव ज्ञानी हैं और ज्ञान से रहित होने के कारण पुद्‌गल-धर्म-अधर्म-आकाश-काल द्रव्य अज्ञानी हैं।

2. जिसे सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ, वह ज्ञानी और जो मिथ्याज्ञान सहित है, वह अज्ञानी।

जिस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, उसी के साथ उसका ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है, भले ही वह कितना ही कम जानता हो या अधिक जानता हो, परन्तु सम्यग्दर्शन होने पर धर्मात्मा जीव का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है, अतः वह ज्ञानी और जिस जीव को मिथ्यादर्शन है /मिथ्यात्व है वह भले ही अधिक शास्त्रों का ज्ञाता हो, परन्तु मिथ्यात्व के साथ होने वाला ज्ञान, अज्ञान है; अतः सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानी और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा अज्ञानी कहा जाता है।

3. जिन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया है, अनन्त ज्ञान हो गया है - ऐसे

Created by Universal Document Converter

केवलज्ञान को प्राप्त अरहन्त-सिद्ध परमात्मा ज्ञानी और जिन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं है, वे उन पूर्ण ज्ञानी की अपेक्षा भले ही जिन्हें 12 अंग का ज्ञान है - ऐसे गणधर देव सहित सभी जीव अज्ञानी हैं।

यह दृष्टिकोण पूर्ण ज्ञान व अल्प ज्ञान की अपेक्षा है।

इस तरह कब ? कहाँ ? क्या ? प्रयोग किया गया है, उसको समझते हुए, हम अपनी मति को व्यवस्थित रख सकते हैं।

❀❀❀

अप्रभावित रहूँ

घुट-घुट कर जन जीवन जीते, हँस- हँसकर जीना चाहूँ।
आयु पूर्ण होने से पहले, कभी नहीं मरना चाहूँ।।

धन-हानि, पद-नाश हुआ तो, सब छुप-छुप कर रोते हैं।
अवसादों-चिन्ता-तनाव में, वे नर जन्म को खोते हैं।।
धन-पद आदि नशे जाने से, मैं निर्भार हुआ मानूं।।1।।

पत्नी-पुत्र साथ न देते, रो-रो कर सब कहते हैं।
ठुकते-पिटते फिर भी मोही, घर में घुसकर रहते हैं।।
मैं एकत्व भावना भाकर, हूँ स्वतंत्र ऐसा जानूँ।।2।।

टी.बी, कैंसर, ब्लड प्रेशर के, भय से भागे फिरते हैं।
कोरोना को रोको ना, बस यही प्रार्थना करते हैं।।
मैं तो रोग रहित, तन विरहित, 'अजर-अमर' हूँ यह गाऊँ।।3।।

पुण्योदय में जो हंसते हैं, पापोदय में रोते हैं।
आर्त-रौद्रमय भावों को कर, जीवन व्यर्थ ही खोते हैं।।
यश-अपयश अरु लाभ-हानि से, भिन्न हूँ 'ज्ञायक' मैं ध्याऊँ।।4।।

Created by Universal Document Converter

11

सम्यग्दर्शन - मोक्ष या स्वर्ग का कारण ?

सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है एवं सम्यग्दर्शन देवायु का कारण है।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः' यह सूत्र आपने पढ़ा-सुना होगा। जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीनों मिलकर एक ही मोक्षमार्ग हैं। देव-शास्त्र-गुरु/सात तत्त्व एवं आत्मा की सच्ची समझ को अथवा आत्मा की रुचि/आत्मा की प्रतीति को सम्यग्दर्शन; आत्मा/सात तत्त्व आदि के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान एवं वीतरागतारूप चारित्र, यह मोक्षमार्ग है। इसे रत्नत्रय भी कहते हैं।

1. रत्नत्रय मोक्ष का ही मार्ग है और रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है अर्थात् रत्नत्रय से या सम्यग्दर्शन से मोक्ष ही मिलता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है, कोई दूसरा मार्ग नहीं है; अतः सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण है, यह परमार्थ कथन है।

सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं। ये तीनों एक साथ ही एक जीव के उत्पन्न होते हैं। चारित्र दिखने में कुछ समय लग सकता है; परन्तु प्रकट सम्यग्दर्शन के साथ ही हो जाता है।

2. दूसरा पक्ष है कि सम्यग्दर्शन से देव आयु का आस्रव होता है - ऐसा तत्त्वार्थसूत्रजी में कथन किया है। तो क्या जो मोक्ष का मार्ग है/ कारण है; वही बंधन का भी कारण है ? क्या एक कारण से दो विरोधी कार्य हो सकते हैं ?

एक कारण से दो विरोधी कार्य नहीं हो सकते। यहाँ पर आचार्यदेव यह कह रहे हैं कि सच में सम्यग्दर्शन देव आयु के आस्रव का कारण नहीं है; अपितु सम्यग्दृष्टि जीव को जो शुभराग होता है, उसके कारण उस जीव को उत्कृष्ट देव आयु/विशिष्ट पदों का आस्रव होता है जो मिथ्यात्व सहित जीव को नहीं होता; इसलिए उपचार से कथन किया गया कि सम्यग्दर्शन से देव आयु का आस्रव होता है।

'इस तरह प्रथम पक्ष सम्यग्दर्शन मोक्ष का ही मार्ग है' यह परमार्थ कथन है, निश्चय नय का कथन है और 'सम्यग्दर्शन से देव आयु का आस्रव होता है' यह औपचारिक कथन है, व्यवहार नय का कथन है।

Created by Universal Document Converter

12

आत्मा - अशुद्ध या शुद्ध ?

आत्मा अशुद्ध/कर्म बंधन सहित है एवं आत्मा त्रिकाल शुद्ध व मुक्त स्वरूप है।

1. आत्मा/जीव अशुद्ध है/मिथ्यादृष्टि है/रागी-द्वेषी है/कर्मबंधन सहित है/संसारी है/दुखी है/दोषी है/अपराधी है/पापी है इत्यादि कथन जिनवाणी में जीव की वर्तमान अवस्था/भाव/परिणाम को देखकर किए जाते हैं।

कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से द्रव्य और पर्याय को अभेद करके कथन किए जाते हैं अर्थात् अशुद्धता/मिथ्यात्व/राग-द्वेष-क्रोध/पाप/दोष जीव की एक समय की पर्याय में हैं, वर्तमान पर्याय में है और ऐसी ही पर्याय या अवस्था अनादि काल से चली आ रही है। पर्याय और द्रव्य को अभेद अर्थात् एक मानते हुए कि यह पर्याय जीव की ही है; इसलिए जीव को भी अशुद्ध/ पापी/रागी कहा जाता है इस तरह इस व्यवहार नय के कथन द्वारा जीव की वर्तमान अवस्था का ज्ञान कराया जाता है।

2. आत्मा/जीव त्रिकाल शुद्ध है /निर्दोष है/निष्पाप है/निरपराधी है/मुक्त स्वरूप है/अनन्त गुणमयी है/अनन्त शक्तिमान है/शरीर-कर्म आदि को छूता भी नहीं है, ये कथन निश्चय नय के कथन हैं एवं जीव के त्रिकाल स्वभाव को बताने वाले हैं।

उक्त कथनों में वर्तमान पर्याय में जो अशुद्धता है उसे गौण करके/उस पर दृष्टि न देकर, जिस तरह एक्स-रे चमड़ी, खून आदि को गौण करते हुए सीधे हड्डी का फोटो लेता है; उसी प्रकार यह नय कर्म, राग-द्वेष, शरीर आदि को गौण करते हुए, उस पर दृष्टि ना देते हुए सीधे

Created by Universal Document Converter

स्वभाव की फोटो लेता है; जहाँ आत्मा द्रव्य स्वभाव से शुद्ध/निर्दोष/मुक्त स्वरूप ही दिखाई देता है।

प्रथम पक्ष पर्याय/अवस्था की मुख्यता से कथन करता है और द्वितीय पक्ष आत्मा के द्रव्य स्वभाव को बतलाने की अपेक्षा कथन करता है।

यहाँ इस बात को भलीभांति समझना आवश्यक है कि सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, मुनिराज का आत्मा शुद्ध होता हो और अज्ञानी जीव, मिथ्यादृष्टि जीव का आत्मा अशुद्ध होता हो – ऐसा नहीं है। द्रव्य स्वभाव से एक इन्द्रिय जीव से लेकर सिद्ध परमात्मा तक सभी एक जैसे शुद्ध हैं। जो इस शुद्धता को स्वीकार करते हैं, वे ज्ञानी हो जाते हैं, उनकी पर्याय शुद्ध हो जाती है और जो इस शुद्धता को स्वीकार नहीं करते, वे अज्ञानी रहते हैं, उनकी पर्याय में अशुद्धता रहती है।

सच में पर्याय की यही अशुद्धता है कि 'आत्मा शुद्ध' है; परन्तु उसे शुद्ध ना मानकर मनुष्य, स्त्री-पुरुष, रागी-द्वेषी के रूप में जीव अनुभव करता है।

जैसे – दो और दो चार होते हैं, अतः जिस व्यक्ति ने चार लिखा है, उसे भी चार ही होते हैं और जिसने गलती से पाँच लिखा है, उसे भी सच में तो दो और दो चार ही होते हैं; परन्तु वह चार न मानकर पाँच मानता है इसलिए वह अनुत्तीर्ण हो जाता है और जो चार मानता है वह उत्तीर्ण हो जाता है। यदि अनुत्तीर्ण होने वाले व्यक्ति के लिए माना जाये कि इसके दो और दो चार नहीं, पाँच ही हैं, तब तो वह अनुत्तीर्ण होगा ही नहीं; क्योंकि उसने तो पाँच लिखा ही है, अतः जैसा वस्तुस्वरूप है, वैसा नहीं मानने वाला अज्ञानी है/मिथ्यादृष्टि है।

कृपया इस कथन को अच्छी तरह से समझियेगा, अनेक वक्ता इस तरह से कहते हैं कि 'अज्ञानी का आत्मा अशुद्ध है'।

Created by Universal Document Converter

यदि वे ऐसा पर्याय अपेक्षा कह रहे हैं, तब तो उनकी बात सही है; परन्तु द्रव्य को भी अशुद्ध कह रहे हैं, तो उनका यह कथन गलत है।

यदि द्रव्य अशुद्ध हो जाएगा, तो पर्याय किस का अवलम्बन लेकर शुद्ध होगी? यदि साबुन ही मैला हो जाएगा, तो किसके आधार से कपड़ा स्वच्छ होगा? पानी ही मलिन हो जाएगा, तो हम पैर कैसे/किससे धोयेंगे?

इसी तरह आत्मा के आश्रय से पर्याय शुद्ध होती है। आत्मा द्रव्य स्वभाव से सदैव शुद्ध है/मुक्त स्वरूप ही है; परन्तु पर्याय में स्वीकृति ना होने से वर्तमान में अशुद्धता चल रही है।

इस प्रकार हमें उक्त दोनों कथनों का दृष्टिकोण समझना चाहिए।

यदि हम प्रथम पक्ष जैसा ही आत्मा को स्वीकार करते रहेंगे, तो अभी भी अज्ञानी हैं, आगे भी अज्ञानी/मिथ्यादृष्टि रहेंगे और यदि द्वितीय पक्ष के अनुसार अपने स्वभाव को स्वीकार करते हैं, उस पर दृष्टि देते हैं, तो ज्ञानी/सम्यग्दृष्टि होंगे।

द्रव्य स्वभाव की शुद्धता को स्वीकार कर पर्याय में भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की दशा प्रकट होना, यही पर्याय की शुद्धता है।

❀❀❀

हे बुध! संयम-शील बिन, सभी दुखी संसार।
कार्य ना हितकर जो करे, पाते दुख अपार।। 80।।
हे जिय! कर्मों से बंधे, भ्रमत चतुर्गति माहिं।
धर्म बिना संसार में, सुख इक क्षण भी नाहिं।। 81।।
सुख कोई ना दे सके, चेतन करो विचार।
धन, घर परिजन भार्या, भिन्न सकल संसार।। 82।।

- पद्यानुवाद : बुद्धि रसायण बावन दोहा

Created by Universal Document Converter

13

महाव्रत – मोक्ष या बंध के कारण?

'मुनिराज के पंच महाव्रत, समिति इत्यादि भाव, संवर–निर्जरा–मोक्ष के कारण हैं/धर्म हैं एवं महाव्रत आदि पालन का शुभ राग, बंध का कारण है।'

ज्ञानी श्रावक और मुनिराज के जीवन में भी शुभोपयोग और शुद्धोपयोग इन दोनों की मिश्र धारा एक साथ चलती है।

मुनिराज के जीवन में तीन कषाय का अभाव होने से जो वीतरागता/शुद्धोपयोग/शुद्ध परिणति/स्थिरता/शुद्धता/आत्मलीनता आदि की परिस्थिति है, वह संवर–निर्जरा का कारण है, मोक्ष का कारण है, कर्म बंध के नाश का कारण है; वही सुख स्वरूप है, सुख का कारण है और उसी समय जो संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में पंच महाव्रत, पाँच समिति, इत्यादि 28 मूल गुणों के पालन करने, शास्त्र लिखने, शिक्षा–दीक्षा देने का भाव/राग होता है, ये सब शुभ भाव/राग हैं, ये बंध के कारण हैं/संसार के कारण हैं।

1. जब पंच महाव्रत आदि के राग को और उसके फल को गौण करके, शुद्धोपयोग के फल को मुख्य करके कथन करते हैं, तब उस राग में भी संवर–निर्जरा का कारणपना सिद्ध किया जाता है, उसे भी धर्म और मोक्ष का कारण कहते हैं। यद्यपि यह मोक्षमार्ग नहीं है, तथापि इन्हें मोक्षमार्ग का निमित्त व सहकारी जानकर उपचार से मोक्षमार्ग कहा गया है।

2. जब शुभ राग को ही मुख्य करके कथन किया है/जाना जाता है, तब वह शुभराग बंध का कारण है/मुक्ति का कारण नहीं है, उसी के साथ जो शुद्ध भाव है/वीतरागता है, वह मुक्ति का कारण है, इस प्रकार का

Created by Universal Document Converter

कथन किया जाता है।

हमें ज्ञानी-मुनिराज के जीवन की इस मिश्र स्थिति को समझ कर, कथनों के दृष्टिकोण को समझना चाहिए कि जब मुनिराज के महाव्रत आदि को धर्म व संवर-निर्जरा का कारण कहा जा रहा है, तब शुद्धोपयोगरूप निश्चय महाव्रतों की बात है, शुभ भावों की नहीं है और जब उन पंच महाव्रत आदि सकल चारित्र को भी बंध का कारण कहा जाए, संसार का कारण कहा जाए, तब उस समय उनके शुभ भाव रूप व्यवहार महाव्रतों की ओर से कथन किया जा रहा है, उसी समय जो शुद्ध भाव से संवर-निर्जरा हो रही है, उसका कथन नहीं किया जा रहा है।

इस तरह कथनों के दृष्टिकोण को समझ कर शुभ भाव बंध का कारण है, मुक्ति का नहीं/शुद्ध उपयोग मुक्ति का कारण है; बंध का नहीं ऐसी मान्यता/अभिप्राय रखने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और यदि हम शुभ भाव से भी धर्म, संवर-निर्जरा मानेंगे; तब आस्रव तत्त्व संबंधी भूल होने से मिथ्यादर्शन ही बना रहेगा।

❀❀❀

मात-पिता कोई नहीं, अपना न परिवार।
जिस-जिस योनि जात है, नया होत संसार।। 83।।
काया कहती जीव से, सदन बनाए अनेक।
नित नूतन गृह जात हो, प्रेम नहीं गृह एक।। 84।।
हे बुध! तन निर्मल न हो, आतम निर्मल जान।
प्राणी पर को दुःख दें, अतः करो निज ध्यान।। 85।।
दीपक कर ले देखते, गिरत कुआं के माहिं।
धर्म रसायन छोड़कर, विष वल्लरी को खाहिं।। 86।।

- पद्यानुवाद : बुद्धि रसायण बावन दोहा

Created by Universal Document Converter

14

गुरु बिन ज्ञान नहीं ?

'गुरु/शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं होता एवं ज्ञान स्वयं से ही होता है।'

1. शास्त्र एवं लोक में हम अधिकांशत: प्रयोग करते हैं कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता/शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं होता/बालक विद्यालय नहीं जाएगा, तो कैसे पढ़ेगा ?

"मैं उन गुरु का शिष्य हूँ, इसलिए मैं इतना जानता हूँ, उन गुरुजी के आशीर्वाद से मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, वह शास्त्र पढ़ कर के ही मैं कुछ सीख सका हूँ, हमें इसीलिए गुरुओं की सेवा करनी चाहिए/विनय करना चाहिए/उनका आशीर्वाद लेना चाहिए" इत्यादि।

ये सब कथन व्यवहार नय से हैं एवं निमित्त का ज्ञान कराने के लिए हैं। जब छात्र को ज्ञान होता है, तब कौन से गुरुजी विद्यमान थे या कौन सा विद्यालय या शिक्षक उसके कार्य में अनुकूल है, जिनके पास जाने की प्रेरणा दी जाती है, उसे भेजा जाता है कि इस स्कूल में जाओ, इस अध्यापक के पास रहकर पढ़ो, यह पुस्तक पढ़ो, तो तुम्हारे लिए ज्ञान की प्राप्ति होगी और जब वह छात्र पढ़ जाता है, तब ऐसा कहा जाता है कि देखो ! इन गुरुजी से या विद्यालय या शास्त्र से इस छात्र को ज्ञान हुआ है।

इस तरह लोक व्यवहार चलाने के लिए एवं ज्ञान प्राप्ति में कौन अनुकूल होगा, उसका ज्ञान कराने के लिए, इस तरह के कथन किए जाते हैं।

2. 'ज्ञान स्वयं से ही हुआ' यह परमार्थ कथन है/सत्य कथन है। जिस जीव का जितना ज्ञान प्रकट होगा, जितनी उसकी योग्यता होगी, जो कुछ जानने की उसकी योग्यता होगी, उसी का ज्ञान उसको होगा। एक ही विद्यालय, एक ही अध्यापक व एक ही पुस्तक से पढ़ने वाले सभी छात्र एक जैसा नहीं पढ़ते; एक जितना नहीं सीखते। कुछ बहुत अधिक सीखते हैं, कुछ, कुछ सीखते हैं, कुछ छात्र ऐसे भी होते हैं कि

Created by Universal Document Converter

समझाया कुछ जा रहा है या लिखा कुछ जा रहा है; पर वे कुछ और ही पढ़ते व सीखते हैं; क्योंकि सच में जिसकी जैसी योग्यता है, वह वैसा ज्ञान उस समय करता है।

इस तरह निमित्त का ज्ञान कराने के लिए यह कहा जाता है कि 'गुरुजी/विद्यालय/पुस्तक से ज्ञान हुआ' और उपादान की योग्यता बतलाने के लिए कहा जाता है कि 'ज्ञान से ही ज्ञान हुआ' इसीलिए आचार्यों ने लिखा है 'आत्मा ही आत्मा का गुरु है।'

ऐसा पढ़कर यह जरूर विचार आ सकता है कि 'इस तरह तो लोग गुरु जन को नहीं मानेंगे, उनका सम्मान नहीं करेंगे ?'

"जो गुरुजन इतनी वस्तु स्वतंत्रता/जीव की सामर्थ्य का ज्ञान कराते हैं उन गुरुजन के प्रति और अधिक सम्मान का भाव जागृत होता है। जो विद्यालय या अध्यापक यह कहते हैं कि छात्र अपनी योग्यता से पढ़ते हैं, हम तो केवल इनको मार्गदर्शन करते हैं, उस विद्यालय के योग्य छात्र उस विद्यालय एवं वहाँ के अध्यापकों को और अधिक सम्मान देकर याद करते हैं और जो जबरदस्ती कान खींच-खींच कर घोलकर पिलाना चाहते हैं, उनमें से जो विद्यार्थी योग्य नहीं हैं, वे कुछ भी नहीं सीखते और जीवनभर इन गुरुजी ने मेरा जीवन बिगाड़ा, डंडे मार-मार कर मुझे लाल कर दिया, मुर्गा बना दिया, गधा कह दिया, यही याद किया करते हैं।"

इसलिए इस बात का ध्यान रखें कि गुरुजन, विद्यालय या शास्त्र का निषेध नहीं किया जा रहा है; अपितु "परद्रव्य के द्वारा हमारे ज्ञान का कार्य होता है, ऐसे 'कर्तापने' का निषेध किया जा रहा है।" निमित्त के रूप में तो उनकी स्वीकृति है ही और इसीलिए व्यवहार नय से उन्हें ज्ञान का देने वाला भी कहा जाता है।

इस तरह प्रथम पक्ष का कथन करते हुए भी वह श्रद्धा का विषय नहीं है और द्वितीय पक्ष श्रद्धा का विषय होते हुए भी हर जगह कहने का विषय नहीं है, यह समझने योग्य है। ❁❁❁

Created by Universal Document Converter

15

जीव कर्मोदय से दुःखी ?

'जीव कर्म के उदय से दुखी है एवं जीव अपने अज्ञान भाव से दुखी है।'

प्रत्येक संसारी जीव अनेक प्रकार की आकुलता/दुख/तनाव को भोग रहा है और इस दुख का कारण अधिकांशतः सभी अन्य को मानते हैं।

धन की कमी, पति-पत्नी, भाई, पड़ोसी, अधिकारी, कर्मचारी इनको प्रतिकूल मानकर, अपने अनुसार चलने वाला ना मानकर या यह सब मुझे अपने अनुसार चलाते हैं, इस प्रकार मानकर अपने दुख का कारण उनको मानते हैं।

सच में बाहर का कोई भी पदार्थ/व्यक्ति/स्थान मेरे दुख का कारण नहीं है, तो फिर दुख का कारण कौन है ?

1. जिनवाणी अन्य सब पर से दृष्टि हटाने के लिए व्यवहार नय से कर्म के उदय/भाग्य/किस्मत को दुख-सुख का कारण कहती है।

ऐसा सुनकर जीव पर को दुख का कारण मानना छोड़ कर, अपने कर्म के उदय को ही दुख का कारण मानने लगता है।

2. तब, कर्म पर से दृष्टि हटाने के लिए आचार्य देव कहते हैं कि 'जीव अपनी अज्ञानता के कारण दुखी है।'

कर्म भी जड़ द्रव्य है, पर है, पुद्गल है, वह हमें दुखी नहीं कर सकता। कर्म का उदय तो मुनिराजों के जीवन में भी आता है, श्रावकों के जीवन में भी आता है।

गजकुमार मुनिराज, सुकुमाल मुनिराज, सुकौशल मुनिराज, पार्श्वनाथ

Created by Universal Document Converter

मुनिराज, सुदर्शन, श्रीपाल, सीता, चंदनबाला आदि के जीवन में भी पाप का उदय था; परन्तु उन परिस्थितियों को उन्होंने बुरा नहीं माना; क्योंकि वे मानते थे कि कोई भी बाहर का व्यक्ति/पदार्थ या कर्म जीव को दुखी नहीं करता, अपितु अपना अज्ञान भाव व उस अज्ञानता से होने वाले राग- द्वेष भाव ही दुख के कारण हैं; इसलिए वे सुखी ही थे।

'जीव अपने अज्ञान से दु:खी है' यह परमार्थ कथन है।

प्रथम पक्ष का कथन अधिकांश प्रयोग में लाया जाता है। हम एक दूसरे को समझाते हैं; "भाई! तुम्हारा और किसी ने बुरा नहीं किया, तुम्हारी ही किस्मत खराब है, तुम्हारे ही पाप का उदय है।'हम अपनी अज्ञानता से दुखी हैं", यह बात बहुत कम सुनने में आती है। आपस में भी हम लोग यह चर्चा तो करते ही नहीं हैं।

प्रथम पक्ष को ही सत्य मानने पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानने का दोष होने से मिथ्यात्व रहता है और द्वितीय पक्ष 'अपने अज्ञान को ही दुख का कारण मानकर' अपने अज्ञान को छोड़कर सम्यग्दृष्टि हो कर यह जीव सुखी हो जाता है।

❀❀❀

विषय कषायों से सहित, कोलाहल है व्याप्त।
मन जब निश्चल शुद्ध हो, परम सौख्य हो प्राप्त।।8।।
जब तक बोधि ना प्राप्त हो, सुत-दारा से प्यार।
चौरासी लख योनि में, सहता दु:ख अपार।।9।।
गृह-धन-सुत-दारा-सुता, उनको निज मत मान।
यह सब कर्माधीन हैं, आगम को पहचान।।10।।
दुख में सुख की कल्पना, मोह उदय से होय।
सुख को तू दुख मानता, शिव सुख कहाँ से होय।।11।।

– पद्यानुवाद : पाहुड दोहा

Created by Universal Document Converter

16

पुण्य को हेय कहने का अभिप्राय ?

पूजन-व्रत-तप-दान-यात्रा आदि पुण्य को हेय कहते हैं अर्थात् यह धर्म नहीं हैं/बंध के कारण हैं - ऐसा कहते हैं; तो लोग इन कार्यों को छोड़कर पाप में लग सकते हैं।

जिनवाणी में पापों/विषयों से बचने के लिए व्रत-पूजन-दान-यात्रा आदि का उपदेश दिया है; साथ ही इसे धर्म कहने का उद्देश्य रहा है कि जीव इस वातावरण/भावभूमि में आकर ही वास्तविक धर्म को समझ सकेगा।

जो जीव इन क्रियाओं को धर्म सुनकर, इन्हीं में संतुष्ट होते हैं, उन्हें जिनवाणी में ही उपदेश दिया गया है कि यह व्रत-तप-दान-तीर्थ-यात्रा -परोपकार इत्यादि के जो भाव हैं, वे भाव शुभ भाव हैं, स्वर्ग आदि के कारण हैं; सांसारिक अनुकूलताओं के कारण हैं; परन्तु वे मुक्ति के कारण नहीं हैं, इसलिए हेय हैं।

'हेय' का अर्थ गंदा/बुरा नहीं होता। 'हेय' का अर्थ है कि वे हमारे प्रयोजन की सिद्धि में कारण नहीं हैं। हम सुख पाना चाहते हैं/कर्मों का नाश कर, जन्म-जरा-मृत्यु रोग का नाश कर, मोक्षरूपी फल पाना चाहते हैं, तो ये भाव मोक्ष के कारण रूप भाव नहीं हैं, सच में ये पुण्य बंध के कारण हैं, सच में ये धर्म नहीं हैं।

भले ही इन भावों को धर्म कहा जाए, धर्म सुना जाए, इन कार्यों/क्रियाओं को यथाशक्ति प्रमाद किए बिना, यथासमय विधि पूर्वक किया जाए तो इसमें कोई दोष नहीं है; परन्तु इसे ही धर्म मान लिया जाए, तो बहुत बड़ा दोष है। इसलिए आचार्यों ने इन भावों को धर्म नहीं मानने के लिए कहा है।

Created by Universal Document Converter

ये भाव हेय हैं, इसका अर्थ यह नहीं समझना कि इनको छोड़कर पाप में जाना है इसका अर्थ इतना ही है कि भले ही जीवन में ये भाव हों; हों क्या साधक दशा में होते ही हैं, यह भाव होना चाहिए का उपदेश भी भरपूर दिया जाता है, परन्तु ये भाव धर्म नहीं हैं/मोक्ष का कारण नहीं हैं, ये संसार का ही कारण हैं यह मानना चाहिए।

ज्ञानियों (जो यह मानते हैं कि पुण्य बंध का कारण है) के जीवन में ये भाव और अधिक मात्रा में होते हैं, अधिक भक्तिभाव पूर्वक होते हैं, समझ पूर्वक होते हैं, मुनिराजों के जीवन में भी पुण्य भाव होते हैं; परन्तु कोई भी ज्ञानी इनको धर्म नहीं मानता है।

हेय का अर्थ है, पुण्य को धर्म मानने का त्याग। हेय का अर्थ है इन्हें मोक्ष का वास्तविक कारण मानने का त्याग। हेय का अर्थ इन्हें छोड़कर, पाप में जाने का उपदेश नहीं है। जिनवाणी में सभी उपदेश ऊँचे चढ़ने के लिए दिए जाते हैं, नीचे गिरने का उपदेश कहीं नहीं है। व्रती-संयमी बनने का उपदेश है, परन्तु व्रत-संयम छोड़कर असयंम में जाने का उपदेश कहीं भी नहीं है।

'कहने-जानने' के कथन और 'मानने' के कथनों का दृष्टिकोण समझ कर भी हम जिन वचनामृत का रसपान कर सकते हैं।

❀❀❀

चिंता करता रात-दिन, मम धन अरु परिवार।
अब आतमचिंतन करो, पाओ सौख्य अपार।।12।।
यह गृहवास अनित्य अरु, पापों का जहँ वास।
दुखमय अरु परतंत्र है, है यमराज का पाश।।13।।
तन-मन-धन सब कर्म कृत, तुष सम नीरस जान।
गृह परिजन का मोह तज, शिव पथ चल मतिमान।।14।।

- पद्यानुवाद : पाहुड दोहा

Created by Universal Document Converter

17

राग का कर्ता - जीव या कर्म ?

'आत्मा को राग-द्वेष-क्रोध आदि भावों का कर्ता कहना एवं राग-द्वेष-मोह-क्रोध आदि भावों का अकर्ता कहना।'

1. मोह-राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-निंदा-प्रशंसा आदि के भाव, कर्म के उदय से होते हैं। चारित्र मोहनीय कर्म का जैसा उदय हो उस प्रकार से राग-द्वेष भाव होते हैं, दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व होता है, दर्शनावरणी कर्म के उदय से नींद आती है इत्यादि अनेक प्रकार के कथन हैं।

जब जीव इन कथनों को पढ़कर यही मानने लगता है कि ये सब भाव, कर्म के उदय से हो रहे हैं; मैं नहीं कर रहा हूँ; मैं इनको क्यों रोकूँ ? इन राग-द्वेष भावों को मैं अपने दोष क्यों मानूँ ? मैं इनका त्याग करने का उपाय क्यों करूँ ?

इस तरह स्वच्छन्द होने लगता है, तब जिनवाणी कहती है कि ये भाव, कर्म के उदय से नहीं, जीव की अज्ञानता से हो रहे हैं। जीव के द्वारा ही किए जा रहे हैं और इसके फल में तुरन्त ही जीव आकुलता का फल भोग रहा है एवं भविष्य में भी नरक आदि गतियों में संसार के दुख भोगेगा।

इस तरह स्वच्छन्द होते हुए जीव को राग-द्वेष भावों का कर्ता जिनवाणी में कहा जाता है।

2. जिनवाणी में जीव को मोह-राग-द्वेष का कर्ता कहकर, उनको दूर करने के लिए, उनका अभाव करके, निर्दोष होने के लिए एवं अन्य को अपने दोषों का कर्ता नहीं मानने के लिए कहा गया था; परन्तु

Created by Universal Document Converter

अज्ञानी जीव 'राग–द्वेष जीव ने किए' – ऐसा पढ़–सुनकर, उन भावों को अपना कर्म मान लेता है, अपना स्वभाव मान लेता है और छोड़ना नहीं चाहता या यह छूट नहीं सकते – ऐसा मानता है; तब "जिनवाणी माँ कहती है यह मोह–राग–द्वेष भाव कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं, जीव का स्वभाव नहीं हैं कि वह राग द्वेष करे, जीव के द्रव्य–गुण में राग उत्पन्न करने की सामर्थ्य ही नहीं है। जीव तो मात्र ज्ञाता ही है। मात्र जानना ही जीव का काम है।"

इस प्रकार राग–द्वेष के कर्तृत्व को छुड़ाकर 'निर्दोष ज्ञाता स्वभाव' को स्वीकार करने के लिए यह कथन किया जाता है।

जिनवाणी के दोनों ही कथन जीव के निर्दोष होने एवं ज्ञाता स्वभाव को स्वीकार करने के लिए हैं।

प्रथम कथन में अन्य कोई मेरे दोषों का कर्ता नहीं है, मेरे द्वारा ही दोष उत्पन्न हुए हैं, इसलिए मैं इन्हें दोष के रूप में स्वीकार कर, इनका अभाव करके निर्दोष हो सकता हूँ। अपने स्वरूप को जाने बिना यह राग–द्वेष उत्पन्न हुए, अब मैं अपने स्वरूप को जानकर इनका अभाव कर सकता हूँ, यह दृष्टिकोण समझ में आना चाहिए।

द्वितीय कथन में जो जीव यह मानकर बैठे हैं कि यह राग–द्वेष मेरा स्वभाव है, वे यह मानकर कि वास्तव में राग–द्वेष मेरे स्वभाव नहीं हैं। ये तो कर्म के उदय से होने वाले विकारी भाव हैं/औपाधिक भाव हैं/ औदयिक भाव हैं। मेरा स्वभाव तो मात्र जानना–देखना ही है।

इस तरह दोनों ही कथन "जीव के कर्तृत्व को छुड़ाकर, ज्ञातृत्व भाव जगाने/निर्दोष होने के लिए ही हैं।"

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

18

शुद्धोपयोग कहाँ ?

जिनवाणी में कहीं कथन आता है कि शुद्धोपयोग चतुर्थ गुणस्थान में होता है, कहीं कथन आता है कि शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से होता है इत्यादि। इस सम्बन्ध में आगम का दृष्टिकोण इस प्रकार है –

'शुद्धोपयोग किसे कहते हैं?'

'अनंत गुणों की अंतर्मुखी परिणति को शुद्धोपयोग कहते हैं।'

'शुद्ध आत्मा का अवलंबन होने से, शुद्ध होने से, शुद्ध का साधक होने से शुद्धोपयोग कहा जाता है।'

1. शुद्धोपयोग प्रारंभ होने की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारंभ हो जाता है।

यहाँ ध्यान रखने योग्य है गुणस्थानों का परिवर्तन/वृद्धि शुद्धोपयोग पूर्वक ही होती है। जीव चाहे पहले से चौथे में आए, पाँचवें में आए, सातवें में आए या आगे जाए, शुद्धोपयोग पूर्वक ही गुणस्थानों में परिवर्तन होता है।

2. शुद्धोपयोग अधिकता की दृष्टि से सातवें गुणस्थान में कहा जाता है; क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान शुद्धोपयोग पूर्वक तो होता है; परन्तु वहाँ बहुत कम समय के लिए शुद्धोपयोग होता है, अत: किसी ग्रन्थ में उसे गौण करके सातवें में होता है, ऐसा कथन किया जाता है।

उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक भावों को ही शुद्धोपयोग या शुद्धात्माभिमुख परिणाम कहा गया है।

3. पूर्णता की अपेक्षा 11वें-12वें गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग कहा गया है।

13वाँ-14वाँ गुणस्थान शुद्धोपयोग का फल है।

Created by Universal Document Converter

उक्त कथनों से हमें आगम का दृष्टिकोण स्पष्ट समझना चाहिए कि जहाँ चतुर्थ गुणस्थान में कहा जा रहा है उसका अर्थ है कि वहाँ शुद्धोपयोग प्रारंभ हो गया है, शुद्धोपयोग के कारण ही चतुर्थ गुणस्थान का जन्म हुआ है।

सातवें गुणस्थान में मुनिराज के लिए कहा जा रहा है, इसका अर्थ है कि वे क्षण-क्षण में शुद्धोपयोग रूप हो जाते हैं और अधिक देर तक रहते हैं, अतः अधिकता के दृष्टिकोण से वहाँ कहा गया है।

यदि कहीं 11वें-12वें गुणस्थान में लिखा हुआ है, तो उसका अर्थ है कि वहाँ शुद्धोपयोग पूर्ण हो चुका है। ❀❀❀

निर्भय अरु निर्भार रहो

सूर्य कहे यदि कमल खिलाता, तो क्यों सब ना खिलते हैं?
गुरु कहे मैं शिष्य पढ़ाता, तो क्यों सब ना पढ़ते हैं??
पालन पोषण किया है मैंने, मात-पिता यह कहते हैं।
कोई स्वस्थ पुत्र होता है, रोगी भी तो रहते हैं।।
माँ कहती मैं रोटी बनाऊँ, सभी एक सी ना बनती।
बॉलर बॉलर फेंकता है पर, कोई निशाने पर लगती।।
हम कुछ कहना चाहें पर ना शब्द निकलते मनचाहे।
गायक गाना चाहे पर ना, गीत गा सके मनचाहे।।
आज्ञा में जिसे रखना चाहें, वही अवज्ञा करता है।
था कुपुत्र नजरों में सब की, सेवा फिर वही करता है।।
धन-पद पाने भागा फिरता, पर कुछ हाथ नहीं आता।
बिना परिश्रम भी कोई जन, क्षण में सब कुछ पा जाता।।
हिलना-डुलना, आना-जाना, कुछ ना होता मनमाना।
होना है जो जब जैसे भी, जैसा भगवन ने जाना।।
भगवन भी ना कुछ करते हैं, मात्र जानते रहते हैं।
निज कर्मोदय से सब होता, भगवन ही यह कहते हैं।।
निज भावों से कर्म बंध हो, कर्मोदय में फल मिलता।
कर्मोदय से जीना-मरना, दुख-सुख सुमन स्वयं खिलता।।
अतः तजो प्रिय पर की आशा, कर्तापन भी त्याग करो।
ज्ञातापना सहज स्वीकारो, निर्भय अरु निर्भार रहो।।

Created by Universal Document Converter

19

चारित्तं खलु धम्मो

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसारजी की सातवीं गाथा के प्रथम चरण में लिखा है – 'चारित्तं खलु धम्मो।'

चारित्तं=चारित्र, खलु=वास्तविक/सच्चा/निश्चय से जो मोक्षरूपी अतीन्द्रिय सुख को दिला दे, धम्मो=धर्म है; अर्थात् चारित्र ही वास्तविक /सच्चा धर्म है।

इस पंक्ति के आधार से वक्तागण प्रतिपादित किया करते हैं कि चारित्र ही वास्तविक धर्म है, अतः हमें देवदर्शन–पूजन, अभिषेक, आहार आदि दान, तीर्थ यात्रा करना चाहिए एवं रात्रि भोजन, जमीकंद व अन्य अभक्ष्य, व्यसनों का त्याग करना चाहिए; क्योंकि चारित्र ही वास्तविक धर्म है।

आचार्यदेव के 'चारित्तं खलु धम्मो' वचन का यह अभिप्राय/ दृष्टिकोण नहीं है। आचार्य देव कह रहे हैं 'चारित्र ही वास्तविक धर्म है', तो चारित्र किसे कहते हैं? यह समझना भी आवश्यक है।

इसका उत्तर आचार्य अमृतचन्द्र देव इसी गाथा की टीका करते हुए लिखते हैं 'स्वरूपे चरणं चारित्रम्' अर्थात् अपने रूप में विचरण करना/ लीन होना ही चारित्र है। आचार्य जयसेनस्वामी लिखते हैं – 'शुद्ध-चित्स्वरूपे चरणं चारित्रम्' शुद्ध चैतन्य स्वरूप में रमण करना चारित्र है।

हमारा रूप मनुष्य, स्त्री–पुरुष, बालक, वृद्ध, गरीब, अमीर, रागी–द्वेषी, क्रोधी, पूजन करने वाला, स्वाध्याय करने–कराने वाला, मंदिर बनाने वाला, मंदिर जाने वाला, पुण्य करने वाला, पाप करने वाला नहीं है।

मैं "ज्ञान–दर्शन स्वभावी अमूर्तिक, अनादि–अनंत, शुद्धात्मा हूँ/ भगवान आत्मा हूँ/ जीव तत्त्व हूँ।" यह मेरा स्वरूप है। इस स्वरूप में

Created by Universal Document Converter

ही विचरण करना अर्थात् लीन होना अर्थात् मानते रहना, यही चारित्र है और यही मोक्ष का कारण है/यही सच्चा धर्म है।

''यदि ऐसा है तो क्या हमें पूजन-व्रत-तप-दया-दान-परोपकार आदि करना चाहिए या नहीं?''

''अवश्य करना चाहिए।''

''इनके करने व अन्याय-अनीति-अभक्ष्य आदि के त्याग को चारित्र कहा जाता है या नहीं?''

''व्यवहार नय से चारित्र अवश्य कहा जाता है।''

''इनके करने/त्याग करने की प्रेरणा देना चाहिए या नहीं?''

''अवश्य देना चाहिए।''

''तो फिर इनको चारित्र मानकर धर्म मानना चाहिए या नहीं?''

''नहीं, इन्हें धर्म नहीं मानना चाहिए। ये शुभ भाव हैं, पुण्य बंध के कारण हैं, इन शुभ भावों के लिए अर्थात् अणुव्रत-महाव्रत आदि के लिए व्यवहार चारित्र कहते हैं, परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द देव इस गाथा में इन्हें चारित्र नहीं कह रहे हैं।

वे मोह अर्थात् मिथ्यात्व/दर्शन मोह, क्षोभ अर्थात् चारित्र मोह (राग-द्वेष) से रहित आत्मा के साम्य परिणाम को चारित्र कह रहे हैं; अतः इस प्रसंग में हमें यही समझना चाहिए।''

इस गाथा में निश्चय चारित्र/वीतराग चारित्र/परमार्थ चारित्र, मोक्ष मार्ग रूप चारित्र का कथन है। यही मोक्षसुख का कारण है। चारित्र का यही वास्तविक स्वरूप मानने योग्य है।

गृहस्थ/मुनि अवस्था में पूजन/दान /अणु-महाव्रत/तप आदि के भाव होते हैं, होते रहते हैं; उन्हें चारित्र कहा जाता है, यह व्यवहार/सराग चारित्र है, स्वर्गादि का कारण है अतः सच्चा चारित्र मानने योग्य नहीं है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

20

स्वरूपाचरण एवं सम्यक् चारित्र!!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग एक ही है, दो या तीन नहीं। अनेक पाठक/श्रोताओं को ऐसा भ्रम हो जाता है कि पहले सम्यग्दर्शन होता है फिर ज्ञान और चारित्र होता होगा - ऐसा नहीं है, रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का प्रारम्भ एक साथ ही होता है।

जिनागम में इस तरह के अनेक कथन आते हैं, जिनसे पाठकों को उक्त भ्रम हो जाता है जैसे - चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होता, चारित्र मुनिराज के छठवें-सातवें गुणस्थान में होता है इत्यादि। इन कथनों का अर्थ यह है कि सबके दिखने में आये - ऐसा चारित्र चतुर्थ गुणस्थान में नहीं होता, अतः कहा गया है कि चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होता। यदि चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र हो ही नहीं तो वहाँ मोक्षमार्ग ही नहीं होगा। अतः चतुर्थ गुणस्थान में भी चारित्र होता ही है, परन्तु वह व्रत रूप नहीं है, बाहर में दिखे ऐसा नहीं है।

चारित्र के ही प्रकरण में सामान्यतया पाठक एक अन्य प्रकरण में भी दृष्टिकोण समझे बिना भ्रमित हो जाते हैं, वह है स्वरूपाचरण चारित्र। कहीं पढ़ने-सुनने को मिलता है, स्वरूपाचरण चारित्र चतुर्थ गुणस्थान से होता है, तो कहीं सातवें गुणस्थान से लिखा होता है। जैसे कि छहढाला में मुनिराज के चारित्र का वर्णन करते हुए लिखा '...सुनिये स्वरूपाचरण अब।' तब फिर विचारणीय यह है कि स्वरूपाचरण चारित्र सच में कब होता है? उक्त कथनों के दृष्टिकोण क्या हैं?

सच में तो स्वरूपाचरण चारित्र नाम का कोई चारित्र ही नहीं है। 'स्वरूपाचरण' सम्यक्चारित्र का लक्षण है। प्रवचनसार ग्रन्थ की सातवीं गाथा की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं 'स्वरूपे चरणं चारित्रम्' स्वरूप में चरण-आचरण करना चारित्र है। इसी गाथा

Created by Universal Document Converter

की टीका में जयसेन आचार्य लिखते हैं – 'शुद्धचित्स्वरूपे चरणं चारित्रम्' शुद्ध चैतन्य स्वरूप में चरण–आचरण/लीनता करना ही चारित्र है। इस तरह स्वरूप+आचरण=स्वरूपाचरण को चारित्र का लक्षण कहा गया है।

स्वरूपाचरण कहाँ से अर्थात् किस गुणस्थान से होता है ?

लक्ष्य–लक्षण सदैव साथ ही होते हैं इस न्याय से सम्यक्चारित्र जहाँ से है, वहाँ से ही स्वरूपाचरण भी है। सम्यक् चारित्र चतुर्थ गुणस्थान से ही है क्योंकि मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट हुआ है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र एक साथ ही होते हैं, अतः स्वरूपाचरणरूप चारित्र का लक्षण भी चतुर्थ गुणस्थान से ही है। यद्यपि वह यहाँ अचारित्र/असंयम की प्रधानतारूप है; तथापि मिथ्यात्व–अनंतानुबंधीमय अशुद्धता के अभावरूप प्रकट शुद्धता सम्पन्न है।

कविवर दौलतरामजी कृत छहढाला की इस पंक्ति के अभिप्राय के आधार से हम 'सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र होता ही है' समझ सकते हैं–

'इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानो मिथ्याचरित्र।'

अर्थात् मिथ्यादर्शन–ज्ञान सहित, जीव की विषयों में जो प्रवृत्ति होती है, उसे मिथ्याचारित्र जानना चाहिए।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप बतलाने वाली उक्त पंक्ति को विपरीत करके सम्यक्चारित्र को समझा जा सकता है –

'इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्ति/निवृत्ति, ताको जानो सम्यक् चरित्र।'

अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान सहित, विषयों में जो प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, उसे सम्यक्चारित्र जानना चाहिए।

चतुर्थ गुणस्थान में विषयों में प्रवृत्ति है, वह असंयम है, पंचम में आंशिक निवृत्ति है, वह एकदेश चारित्र/संयम रूप है और ऊपर के गुणस्थानों में सकल चारित्र है।

जिस अनुपात में लक्ष्य अर्थात् सम्यक्चारित्र रूप प्रवृत्ति–निवृत्ति में हीनाधिकता होगी, तदनुसार लक्षण अर्थात् स्वरूपाचरण में भी हीनाधिकता

Created by Universal Document Converter

होगी, पर अभाव नहीं होगा।

इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि स्वरूपाचरण चारित्र नाम का चारित्र नहीं है, अपितु 'स्वरूपाचरण' सम्यक्चारित्र का लक्षण है। लक्षण-लक्ष्य एक साथ ही होते हैं। सम्यक्चारित्र चतुर्थ गुणस्थान में ही प्रकट हो जाता है, क्योंकि वहीं से मोक्षमार्ग है, अतः स्वरूपाचरण भी चतुर्थ गुणस्थान से ही है।

मुनिराज को क्षण-क्षण में स्वरूपाचरण होता है, उनका संयम बाहर में दिखता है; इसलिए जहाँ लक्ष्य स्पष्ट दिखा, वहाँ से ही स्वरूपाचरण रूप लक्षण भी है - ऐसा आगम कथन मिलता है, पर वहाँ से ही है - ऐसा अभिप्राय नहीं समझना चाहिए।

गुणस्थान-वृद्धि के साथ सम्यक्चारित्र व स्वरूपाचरण में परिणामात्मक वृद्धि होती जाती है।

आगम में सम्यक्चारित्र के दो भेद किये गये हैं -

1. सम्यक्त्वाचरण चारित्र (चतुर्थ गुणस्थान से सिद्ध पर्यन्त)
2. संयमाचरण चारित्र।

संयमाचरण चारित्र दो प्रकार का है -

1. देश संयमाचरण (5वाँ गुणस्थान)
2. सकल संयमाचरण। इसके 5 भेद हैं -

1. सामायिक (छठवें से नववें गुणस्थान तक।)
2. छेदोपस्थापना (छठवें से नववें गुणस्थान तक)
3. परिहार विशुद्धि (छठवें-सातवें गुणस्थान में)
4. सूक्ष्मसांपराय (दसवाँ गुणस्थान)
5. यथाख्यात चारित्र (ग्यारहवें गुणस्थान से सिद्ध पर्यन्त)

इस तरह हम स्वरूपाचरण व सम्यक्चारित्र के सम्यक् स्वरूप को समझकर, अपनी ज्ञान परिणति को निर्मल कर सकते हैं। ❀❀❀

Created by Universal Document Converter

21

जैसी गति, वैसी मति या जैसी मति वैसी गति!

'भावों के अनुसार भव अर्थात् गति की प्राप्ति होती है या भव के अनुसार भाव होते हैं।'

1. "जिनवाणी में सभी के लिए प्रेरणा दी जाती है कि हम अशुभ भावों को छोड़कर, पाप भावों से बचते हुए, देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, व्रत,परोपकार आदि शुभ भाव करें; परनिन्दा, स्व प्रशंसा, अन्याय, अनीति, अभक्ष्य से बचें; क्योंकि भावों के अनुसार ही हमारा भव होगा।

हमारे भाव ही, आगे भव बढ़ाने वाले/बिगाड़ने वाले हैं और भाव ही भव का अभाव करने वाले हैं। इसलिए हम दुष्कृत्यों से बचते हुए, सुकृत्य करें और अपने भावों को सुधार कर, भव सुधारें।"

यह कथन हमें विषय-कषाय, व्यसनों से बचने के लिए, अनैतिकता से बचने के लिए एवं सत् कार्यों को करते हुए, लौकिक व लोकोत्तर जीवन मंगलमय करने के लिए, उपदेश के रूप में प्रदान किया जाता है। यह उपदेश बोध है, सिद्धान्त बोध नहीं।

2. जिनवाणी में ही यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि सच में भव के अनुसार जीव के भाव स्वतः होते हैं, जिस जीव की जो गति होना हो, मति तदनुसार होती चली जाती है। अन्यत्र ही कहा है "जाको विधि दारुण दुःख देही, ताकि मति पहले हर लेही।"

जीव स्वयं वैसा ना करना चाहता हो, हम सब भी उसे अन्य कुछ करने की प्रेरणा दें; परन्तु उसकी जैसी गति/परिस्थिति/स्थिति/भव होना है, उसके अनुसार उसकी मति/भाव होते ही हैं और हम कहते हैं कि

Created by Universal Document Converter

''देखो कितना समझाया था; पर इसकी जैसी गति होना थी, वैसी ही मति हो गई।''

जो प्रारंभिक जीवन में बड़े धर्मात्मा दिखते हैं, वे भी अंत में सब भूलकर अनर्गल प्रवृत्तियों में लग जाते हैं और अनेक ऐसे होते हैं जिन्होंने जीवन भर धर्म के बारे में सुनना पसंद नहीं किया, वे ही अंत समय सहजता से ही सरल/कोमल परिणामों से युक्त होकर विनम्रता पूर्वक जिनवाणी का श्रद्धान करते हैं ।

हमने पुराणों में पढ़ा है कि मारीचि के भव में बतला दिया गया कि यह जीव 24वाँ तीर्थंकर होगा। तब प्रथम तीर्थंकर के काल से 24वें तीर्थंकर तक जो-जो भी भव होना थे, उनके अनुसार उस जीव के भाव सहज ही होते चले गए।

श्री नेमिनाथ भगवान ने बताया कि द्वारिका नगरी 12 वर्ष बाद जलेगी; तो वहाँ स्थित जीवों के भाव उस कार्य को संपन्न करने के योग्य ही हुए, जो दिख ऐसे रहे थे कि वे कार्य होने नहीं देंगे; परन्तु वे ही भाव उस कार्य/जलने रूप कार्य में कारण बन गए।

इस तरह जिनवाणी में कहा है, जो भव होना है, वह अनादिकाल से सुनिश्चित है और उसके अनुसार ही भाव/परिस्थितियाँ/निमित्त आदि सभी कारण एक साथ उस समय उपस्थित हो जाते हैं। कहीं चाहकर उपस्थित किए देखते हैं और कहीं अनचाहे उपस्थित हुए देखते हैं, पर सच में वे पूर्व सुनिश्चित थे और वे उपस्थित हो गए, यह सिद्धान्त बोध है/यह नियम है।

प्रथम पक्ष हमें विषय-कषायों से बचाने, अनैतिकता से बचाकर, जीवन में नैतिकता,अहिंसा, सदाचार, आवश्यक, व्रत आदि लाने की प्रेरणा देने का कथन है; परन्तु वह कथन कर्तृत्व/अहंकार करने के लिए

Created by Universal Document Converter

नहीं है। वह व्यवहार नय का उपदेश है, हितोपदेश है, सिद्धान्त का उपदेश नहीं है।

द्वितीय पक्ष में सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। यह स्वच्छन्द होकर कुछ भी कार्य करते रहने, भावों को बुद्धि पूर्वक बिगाड़ते रहने के लिए नहीं है, यह निश्चय नय का परमार्थ कथन है।

द्वितीय पक्ष पढ़कर हमें लग सकता है कि जीव इस तरह तो स्वच्छन्द हो जाएगा कि जो भव होना है, वही होगा तदनुसार भाव हो जाएंगे। मैं परिणामों में सुधार का प्रयास क्यों करूँ?

जो अज्ञानी जीव हैं, जिनका बुरा भव होना है, वे तो कुछ भी सुन कर बुरे मार्ग की ओर ही जाएंगे; परन्तु जो ज्ञानी हैं, जिनका भव सुन्दर होना है, जिनके भव का अभाव होने वाला है, वे तो इस कथन से यही समझते हैं कि यह कथन सर्वज्ञ भगवान का है, उन्होंने मेरे भव का अभाव देखा होगा, इसलिए मुझे जिनवाणी पढ़ने-सुनने व श्रद्धान करने का अवसर मिला है। मैं बुरे कार्य अर्थात् विषय, कषाय, पाप के भाव क्यों करूँ?

इस प्रकार बुद्धि पूर्वक बुरे भाव/कार्यों से हटते हैं, भले कार्यों में लगते हैं, परन्तु कर्तृत्व का अहंकार नहीं करते। वे अच्छे होते हुए भावों में यही मानते हैं कि मेरा भव अच्छा होना है, इसलिए भाव अच्छे हो रहे हैं।

अन्य जीवों के बुरे भाव होते हुए देखकर, समता धारण करते हैं कि इस जीव का अगला भव बुरा होना है, इसलिए देखो यह मनुष्य भव, भारत देश, जैन धर्म पाकर व जिनवाणी सुनकर भी स्वच्छन्द होकर पाप कार्यों में लग रहा है, इससे सिद्ध हो रहा है कि भव के अनुसार ही भाव होते हैं; इसीलिए इस जीव को उत्तम जिन वचनामृत का सत्य श्रद्धान नहीं हो रहा है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

22

जीव और अजीव कहने का दृष्टिकोण

1. जो जानता-देखता और सुख-दुख का अनुभव करता हो; जो चैतन्य प्राण से जीता हो; अथवा जो जीवत्व शक्ति का धारक है, उसे जीव कहते हैं और जो जानता-देखता, सुख-दुख से रहित हैं - ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन सभी को अजीव कहते हैं।

2. आध्यात्मिक दृष्टिकोण से 'जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जाए वह जीव।'

उक्त कथनानुसार जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तो अजीव हैं ही, पर मेरे अतिरिक्त जिन अनन्त जीवों में मेरा ज्ञान-दर्शन, सुख-दुख नहीं पाया जाता, वे भी मेरे लिए अजीव हैं।

प्रथम कथन जीव की पहचान कराने व विश्व में स्थित छह प्रकार के द्रव्यों को दो भागों में विभक्त करने के लिए, 'जानने-देखने वाला जीव और अन्य सभी अजीव' इस तरह विश्व व्यवस्था का ज्ञान कराने के लिए है।

द्वितीय कथन श्रद्धान करने/अनुभूति करने/प्रतीति करने की अपेक्षा से कहा गया है कि एकमात्र जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन, सुख-दुख पाया जाए वही जीव है। मेरे ज्ञान-दर्शन, सुख-दुख के लिए जैसे 5 द्रव्य अजीव हैं उसी प्रकार अन्य जीव भी अजीव ही हैं, वे भी मुझे मेरे जीव के रूप में श्रद्धेय नहीं हैं और पुद्गल आदि अजीवों की तरह, अन्य जीव भी मुझे सुख-दुख में कारण नहीं हैं। जिस तरह पुद्गल आदि से भिन्न अपने आपको जानना-मानना है, उसी तरह स्वयं के अतिरिक्त अन्य सभी जीव, चाहे वे अरहन्त-सिद्धदशा को प्राप्त हों, उनसे भी भिन्न अनादि-अनन्त, अनन्त गुणात्मक, अखण्ड, अभेद निज आत्मा को जानने से ही सम्यग्दर्शन होता है; 'अतः मैं ही जीव हूँ।' ❀❀❀

Created by Universal Document Converter

23

मृत्यु अकाल में या स्व काल में ?

1. अ. किसी भी संसारी प्राणी का देह में रुकना उसके आयु कर्म के निमित्त से होता है; और आयु कर्म पूर्ण होने पर ही देह का वियोग होता है। हम सांसारिक जीवन में देखते/मानते हैं कि सामान्यतया अमुक व्यक्ति 75-80 वर्ष या 100 वर्ष तक जिएगा और इतनी ही उम्र पा कर उसका देह वियोग होता है; तो हम कहते हैं कि इसका समय आ चुका था/आयु हो गई थी/काल आ गया था और स्व काल में मृत्यु हुई; परन्तु किसी व्यक्ति/प्राणी का यदि हमारी कल्पित आयु से पहले ही आग लगने, विष खाने, पानी में डूबने या अन्य किसी दुर्घटना के कारण देह वियोग होता है, तब कहा जाता है कि इसकी अकाल मृत्यु हो गई। इसका 'काल' अर्थात् समय नहीं आया था।

यहाँ मृत्यु होने में समय अर्थात् आयु कर्म मुख्य नहीं दिख रहा है, बल्कि अन्य कोई घटना/दुर्घटना मुख्य होने से काल में मृत्यु हुई ना कहकर, 'अकाल' में मृत्यु हुई कहा जाता है; यह व्यवहार नय का कथन है।

आ. इसी संबंध में दूसरा हेतु यह भी है - जैसे - एक घड़े में पानी है, जो एक-एक बूँद करके टपक रहा है और वह 2 घंटे में खाली होगा हम सभी यह समझ रहे हैं; परन्तु एक घंटा बीतने पर कोई बालक आया और उसका धक्का लगने पर वह घड़ा गिरकर के फूट जाता है; तो हम कहेंगे, अकाल में ही पानी इसका गिर गया।

एक घंटा बीतने के बाद बाकी का पानी किस विधि से निकलने वाला था, यह हमें पता नहीं था; परन्तु सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार तो वह घड़ा इसी तरह से खाली होना था, उन्होंने तो जाना था।

Created by Universal Document Converter

इसी प्रकार कर्म सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी की 100 वर्ष की आयु है और वह आयु एक-एक क्षण करके बीतती है; तो 100 वर्ष में वह आयु पूर्ण होगी; लेकिन उसी प्राणी की 60 वर्ष की आयु बीतने पर जो शेष 40 वर्ष हैं, उसकी उदीरणा हुई अर्थात् अग्नि में जलने से, बंदूक की गोली से, कोई विशेष बीमारी या दुर्घटना के निमित्त से शेष सब कर्म एक साथ खिर गये; तो कहा जाता है कि इसकी अकाल मृत्यु हो गई/ उदीरणा मरण हो गया।

2. अ. किसी दुर्घटना से जो मृत्यु हुई, वह भी सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार देखा जाए, तो जब होना थी, जिस तरह होना थी, तभी हुई, उसी तरह हुई; इसलिए सच में अकाल में कहलाने वाला मरण भी स्व काल में ही हुआ है; यह परमार्थ कथन है।

आ. कर्म किसी घटना के निमित्त से एक साथ झड़ गये हैं; पर उसके कुछ आयु कर्म शेष रह गये हों - ऐसा नहीं है। आयु कर्म झड़ने का तरीका अलग हुआ, उदय पूर्वक कर्म पूर्ण नहीं हुआ, बल्कि 40 वर्ष की उदीरणा (एक साथ झड़ जाना) हो गई।

भगवान के ज्ञान के अनुसार तो जीव के आयु कर्म की उदीरणा होकर, किसी दुर्घटना के कारण से देह वियोग होना था, यह देखा गया था और वैसा ही हुआ है।

अतः हम कह सकते हैं कि हमारे ज्ञान व उदीरणा की अपेक्षा अकाल में देह वियोग हुआ/मृत्यु हुई और सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान के अनुसार तो कोई भी कार्य अकाल में नहीं होता है। उनके ज्ञान के अनुसार तो प्रत्येक कार्य, निश्चित समय, निश्चित स्थान, निश्चित विधि पूर्वक ही होता है।

यह परमार्थ कथन है और यही हमारी श्रद्धा होनी चाहिए। यही निर्भय व निर्भार रहकर शान्ति से जीने का उपाय है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

24

व्यवहार नय के कथनों के दृष्टिकोण

आत्मा का परद्रव्य के साथ एकत्व/कर्तृत्व आदि के संबंध में जिनवाणी के विभिन्न कथनों का दृष्टिकोण।

1. मकान-दुकान-परिवार-धन आदि का स्वामी या कर्ता कहना।

यह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। इस नय द्वारा जीव से भिन्न दूरवर्ती परद्रव्यों का स्वामी या कर्ता बतला कर उनका कर्ता/स्वामी सिद्ध करना अभिप्राय ना होकर, सामाजिक/प्रशासनिक दृष्टि से इन पदार्थों के अलावा अन्य किसी पर हमारा अधिकार नहीं है, अन्य किसी के कार्य के कर्ता नहीं हैं, उनके भोक्ता नहीं हैं, इस तरह 'नैतिकता की स्थापना' करना मुख्य प्रयोजन है।

2. जीव को शरीर के अनुसार मनुष्य, स्त्री-पुरुष और शरीर की क्रियाओं का कर्ता कहना।

यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय का कथन है। इसका उद्देश्य शरीर को जीव बतलाना या शरीर की क्रियाओं का कर्ता जीव को सिद्ध करना नहीं है, अपितु शरीर के अलावा बाहर के परिवार-मकान-दुकान आदि का कर्ता जीव नहीं है यह सिद्ध करना है एवं अन्य जो जीव हमें दिखाई देते हैं वे शरीर के माध्यम से ही दिखाई देते हैं तो उनकी रक्षा करना, उनसे जीव जैसा व्यवहार करना, जिससे कि 'अहिंसा धर्म' का पालन हो यह मुख्य उद्देश्य है।

3. राग-द्वेष-क्रोध आदि शुभ-अशुभ भावों का कर्ता कहना, यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय का कथन है।

इस नय का उद्देश्य इन भावों का कर्ता सिद्ध करना नहीं है, अपितु जीव राग-द्वेष के अलावा कर्म-शरीर या मकान-दुकान का कर्ता नहीं

Created by Universal Document Converter

है, यह सिद्ध करना है। इन भावों का कर्ता बता कर, इनसे जीव कैसे भेदविज्ञान करे; क्योंकि यह राग ही आत्मा का रोग है, इस रोग को दूर कर जीव नीरोग हो जाए, यह मुख्य उद्देश्य है।

4. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वीतरागता संवर-निर्जरा आदि शुद्ध पर्यायों का कर्ता कहना, यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय का कथन है।

इसका उद्देश्य जीव राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता नहीं है, यह बताना है; क्योंकि वे विभाव हैं, कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं और जीव को सच में इन निर्मल पर्यायों का कर्ता कहकर, आत्मा को अकर्ता सिद्ध करना ही मुख्य उद्देश्य है।

इस तरह जिनवाणी में व्यवहार नय के चार भेदों के माध्यम से आत्मा को, शरीर से भिन्न, जो परद्रव्य हैं उनका, शरीर का, राग-द्वेष एवं निर्मल पर्याय का कर्ता-भोक्ता कहा जाता है। यदि इन कथनों का हम ज्यों का त्यों श्रद्धान करेंगे, तो मिथ्यात्व का ही पोषण करेंगे और यदि हम इनकी मर्यादा/अभिप्राय समझकर ज्ञायक स्वभाव की श्रद्धा करेंगे, तो ही समझ सच्ची होगी/सम्यग्दर्शन होगा।

व्यवहार नय के कथनों का उद्देश्य स्वयं को कर्ता मानकर कर्तृत्व बुद्धि का पोषण करना नहीं है; अपितु क्रमशः मकान-दुकान, फिर शरीर; राग-द्वेष और राग-द्वेष का कर्तृत्व छोड़कर निर्मल पर्याय को अपना कर्म समझ कर, फिर वहाँ से भी दृष्टि हटाकर, अकर्ता एवं ज्ञायकस्वभावी आत्मा तक पहुँचाना ही उद्देश्य है।

जिनवाणी का कोई भी कथन 'कर्तृत्व का पोषण करने के लिए नहीं है' और ना ही कोई भी कथन शुभ भाव छोड़कर, पाप में जाने के लिए अर्थात् स्वच्छंद होने के लिए है। सभी कथनों का मुख्य उद्देश्य/मूल उद्देश्य/मूल प्रयोजन वीतरागता का पोषण करने/कर्तृत्व का अभाव करके, 'मात्र जानना मेरा काम' यह मानने के लिए ही है। ❀❀❀

Created by Universal Document Converter

25

सम्यग्दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं के दृष्टिकोण

1. 'देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।' चरणानुयोग में वीतरागी-सर्वज्ञ देव/वीतरागता की पोषक स्याद्वादमयी जिनवाणी/ शास्त्र और नग्न दिगम्बर वीतरागी गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है; क्योंकि जब तक सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप हमारे ज्ञान में स्पष्ट नहीं होगा; मात्र उनके प्रति ही श्रद्धा नहीं होगी, तब तक सम्यग्दर्शन का मूल विषय सुनने के योग्य भी नहीं होंगे, इसलिए कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु के अंधविश्वासों से रहित, देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान आवश्यक जानकर यह परिभाषा दी गई है।

2. 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष सात तत्त्वों की श्रद्धा करना ही, सम्यग्दर्शन है। मात्र देव-शास्त्र-गुरु को ही माने, उनकी ही पूजन करे, लेकिन उनके द्वारा बताए गए सात तत्त्वों को यदि ना जाने जो कि प्रयोजनभूत तत्त्व हैं, तब तक सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची समझ, उत्पन्न नहीं नहीं हो सकती। अपने आत्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिए बाहर के अन्य समस्त पर पदार्थों से दृष्टि हटाकर सात तत्त्वों का ज्ञान व श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन कहा है।

3. 'आपा-पर या स्व-पर के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।'

सात तत्त्व की परिभाषाएँ, भेद-प्रभेद जाने; परन्तु इनमें मैं कौन हूँ? और मुझसे भिन्न पर कौन है? इसका यदि ज्ञान न किया जाए; तो निज आत्मा का अनुभव किया जाना संभव नहीं है। इसलिए सातत त्त्वों को जान कर, उनमें से भी मैं कौन हूँ? और पर कौन है? इसका ज्ञान श्रद्धान आवश्यक है; अतः आचार्यदेव ने कहा आपा-पर के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

4. 'आत्म श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' या 'परद्रव्यन तैं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है।'

अपने और पराए का ज्ञान हो भी जाए; परन्तु यदि मात्र अपने आत्मा

Created by Universal Document Converter

की रुचि/महिमा/प्रतीति/अनुभूति ना हो, आत्म सन्मुख ही अपना परिणाम ना हो तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

इन चारों परिभाषाओं में प्रथम के प्रयोजन की विधि द्वितीय से द्वितीय के प्रयोजन की विधि तृतीय से और तृतीय के प्रयोजन की विधि चतुर्थ परिभाषा से होती है। आत्मानुभूति में निश्चय नय से सभी परिभाषायें एक साथ घटित हो जाती हैं।

देव-शास्त्र-गुरु, सात तत्त्व एवं आपा-पर का ज्ञान एक अपने आपको जानने के लिए ही है। जब 'अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी, अनादि निधन वस्तु ही मैं हूँ' ऐसा श्रद्धान हुआ उसी का नाम वास्तविक/निश्चय/सच्चा/परमार्थ सम्यग्दर्शन है और इसी के साथ ऊपर कहे गए तीन लक्षण भी सार्थक हो जाते हैं, उन्हें व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाने लगता है। यदि यहाँ तक हम ना पहुँचें तो ऊपर के लक्षण भी सार्थक नहीं होते।

जिस प्रकार किसी कार्यालय में अनेक बाबुओं के द्वारा हमारी फाइल पर टिप्पणी कर दी गई हो; परन्तु जब तक अधिकारी के हस्ताक्षर नहीं हो जाते, तब तक वह फाइल या हमारा प्रमाण-पत्र पूरा लिखा होने पर भी प्रमाणित नहीं होता/कार्यकारी नहीं होता; इसी प्रकार जब तक स्व संवेदन ना हो तब तक ऊपर के 3 लक्षण भी सार्थक नहीं होते।

ऊपर के तीनों लक्षण क्रमशः हमें आत्मा के नजदीक लाने में सहायक हैं, इसलिए आगम में उन लक्षणों का प्रयोग किया गया है, उनकी उपयोगिता है, लेकिन उनमें ही संतुष्ट हो जाए और आगे बढ़ते हुए निज आत्मा तक ना आवे, तो देव-शास्त्र-गुरु अथवा सात तत्त्व का ज्ञान तो पूर्व जन्मों में अनेकों बार किया, दूसरों को उपदेश दिया; परन्तु सच्ची श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं हुआ और हम संसारमार्ग से, मोक्षमार्ग में नहीं आ सके।

इसलिए सर्वप्रथम हम वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान/निर्णय करके, सात तत्त्वों का अभ्यास करके, उनमें से अपने और पराए का ज्ञान कर मात्र अपने आप के प्रति रुचि/श्रद्धा/प्रतीति लाएं, अपने आत्म वैभव की ही महिमा हमारे हृदय में विद्यमान हो, तो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न अवश्य प्रकट होगा। ❁❁❁

Created by Universal Document Converter

26

कार्य - सहज साध्य या पुरुषार्थ साध्य ?

'कार्य क्रमबद्धपर्याय के अनुसार स्वकाल में सहज होता है एवं कार्य पुरुषार्थ से संपन्न होता है।'

''प्रत्येक द्रव्य का जो भी कार्य होता है, वह पाँच समवाय पूर्वक ही होता है।''

इस नियम के अनुसार जीव द्रव्य के भी सुख-दुख, लाभ-हानि, यश-अपयश, संसार-मोक्ष, राग-द्वेष, सम्यग्दर्शन, मुनिदशा, गुण-स्थान परिवर्तन आदि जो भी कार्य होते हैं, वे पाँच समवाय पूर्वक ही होते हैं।

स्वभाव, काललब्धि, पुरुषार्थ, भवितव्यता या होनहार और निमित्त इन पाँच कारणों का समवाय अर्थात् मिलना ही उस निश्चित कार्य को संपन्न करता है।

स्वभाव अर्थात् वह कार्य किसमें होने की योग्यता है - जैसे सम्यग्दर्शन, सुख, ज्ञान, मोक्ष,जीव में ही होंगे अन्य में नहीं।

वह निश्चित कार्य जिस समय होगा वही उसकी काललब्धि है। उस समय अर्थात् कालांश को पर्याय और उसमें उत्पन्न होने वाले उपशमादि भावों को कार्य कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में वीर्य नाम का गुण है, उसकी पर्याय को पुरुषार्थ कहते हैं। कोई भी कार्य होगा तो उस समय उस कार्य के योग्य पुरुषार्थ भी होगा ही। वीर्य गुण से आशय किसी भी कार्य की उत्पत्ति में होने की सामर्थ्य/शक्ति से है।

जो कार्य होने वाला है, वह उसकी भवितव्यता या होनहार है और बाहर में उस कार्य के जो अनुकूल होगा, वह निमित्त कहलाएगा, जैसे ज्ञान प्राप्ति में गुरु, विद्यालय, पुस्तक; सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में गुरु का

Created by Universal Document Converter

उपदेश, बहिरंग निमित्त है; तो अंतरंग निमित्त में दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम व मोक्ष होने में आठों कर्मों का क्षय होना/नष्ट होना निमित्त कहलाता है।

प्रथम तो यह निश्चित ही समझना चाहिए कि जो भी कार्य होगा, वह इन पाँचों कारणों के मिलने पर ही होगा। जब भी कार्य होता है, वहाँ एक भी कारण कम नहीं होता; अतः यह प्रश्न होना ही निरर्थक है कि यदि हम क्रमबद्ध पर्याय को मानेंगे; तो पुरुषार्थ का लोप हो जाएगा/नाश हो जाएगा, क्योंकि पाँच समवाय में पुरुषार्थ भी है; अतः उस कार्य के योग्य पुरुषार्थ भी होगा ही, निमित्त भी होगा ही।

हमारा पुरुषार्थ हमारे में ही सहज होता है, अन्य में नहीं, वह भी अपने स्वकाल में ही होता है। किसी भी कार्य का पुरुषार्थ उसी द्रव्य में स्वकाल में सहज ही होता है, हमारे विकल्पों या इच्छा से नहीं। किसी कार्य विशेष के लिए किए जाने वाले प्रयत्न अर्थात् योग और उपयोग को भी व्यवहार से पुरुषार्थ कहा जाता है। सबमें अपना पुरुषार्थ है (वीर्य गुण) अन्य की आवश्यकता नहीं है।

जिनवाणी में प्रयोजनवश किसी एक कारण को मुख्य करके कथन करते हैं। जब किसी को प्रेरणा देना हो, प्रमाद छोड़ने का उपदेश देना व अपना कार्य संपादित करने के लिए उत्साहित करना हो, तब यही कहा जाता है कि "कार्य पुरुषार्थ पूर्वक ही होगा; आप ऐसे बैठे रहेंगे तो कार्य नहीं होगा; यदि मोक्ष प्राप्त करना है/सुखी होना है, तो तत्त्वज्ञान का अभ्यास कीजिए, राग आदि कम करते हुए, अन्याय-अनीति-अभक्ष्य का त्याग कीजिए, आत्मचिंतन कीजिए, सामायिक आदि कीजिए आगे बढ़ते हुए व्रत, महाव्रत आदि धारण करने का प्रयास कीजिए और आठ कर्मों का अभाव कर, मोक्ष सुख को प्राप्त कीजिए।"

और जब कर्तृत्वबुद्धि/कर्तापने का भार हटाकर ज्ञातापना स्वीकार करने के लिए बात कही जाती है, तब काललब्धि को मुख्य करके "जब

Created by Universal Document Converter

जो कार्य होना है, तभी होगा; हमारे चाहने/करने से आगे-पीछे नहीं होगा'' - ऐसा उपदेश दिया जाता है।

मैं जल्दी से मोक्ष कर लूँ, मैं जल्दी सम्यग्दर्शन प्रकट कर लूँ, उसके लिए भूखा-प्यासा रहूँ, किसी का आशीर्वाद ले लूँ - ऐसी आकुलता, यह कोई उपाय/पुरुषार्थ नहीं है। कार्य जब जिस समय होना है, उस समय ही होगा। तभी सम्यक् पुरुषार्थ व निमित्त भी उपलब्ध होंगे, इसलिए कर्ता बुद्धि/परोन्मुखीवृत्ति छुड़ाने के लिए, क्रमबद्धपर्याय या क्रमनियमित पर्याय या जो जब जैसा होना है, जो भगवान के ज्ञान में आया है, वही होगा; इत्यादि कहकर 'जीव मात्र ज्ञाता है' समझाया जाता है।

उपदेश हमेशा पुरुषार्थ करने व निमित्त को जोड़ने या उनके नजदीक जाने का ही दिया जाता है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम जो कार्य होने वाला है, उसे परिवर्तित कर/करा सकते हैं, अतः कार्य स्वकाल में स्वतः सहज होता है, यह मानकर/समझकर निर्भार रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में मात्र काल की ही सुनिश्चितता नहीं है, अपितु पुरुषार्थ/निमित्त आदि पाँचों समवायों की ही सुनिश्चितता है। प्रत्येक कार्य के पाँचों समवाय सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में अनादि से हैं, हमें तो मात्र यह निर्णय कर, निर्भार होना है।

वस्तुव्यवस्था को सही ढंग से समझना ही सच्चा पुरुषार्थ है। परद्रव्य में या अपनी पर्याय में फेरफार करने की भावना पुरुषार्थ नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय का उपदेश स्वच्छन्दी/प्रमादी होने के लिए नहीं है और पुरुषार्थ करने का उपदेश कर्तृत्व का पोषण करने के लिए नहीं अपितु अकर्ता/ज्ञाता स्वभाव की दृष्टि कराने के लिए है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

27

निश्चय नय-व्यवहार नय के दृष्टिकोण

जो द्रव्य/भाव/क्रिया जैसी है, उसे वैसा ही जानना व कहना निश्चय नय है और जो द्रव्य भाव या क्रिया जैसी है, वैसी ना जानकर/कहकर प्रयोजनवश किसी अन्य रूप में जानना/कहना व्यवहार नय है।

निश्चय नय का विषय अर्थात् कथन परमार्थ है/सत्यार्थ है/श्रद्धा करने योग्य है; व्यवहार नय का कथन कहने योग्य/समझने योग्य है परन्तु 'श्रद्धा' का विषय वह नहीं होता अर्थात् उसे व्यवहार/उपचार ही मानना चाहिए, परमार्थ नहीं।

व्यवहार नय हेय है, इसका अर्थ पूजा, व्रत, दान, भक्ति, स्वाध्याय आदि क्रियाएँ छोड़ देना नहीं है; क्योंकि ये सब क्रियाएँ व्यवहार नय नहीं हैं, इन क्रियाओं को धर्म कहना/मुक्ति का कारण कहना यह व्यवहार नय है, अतः इनको धर्म या मुक्ति का कारण नहीं मानना, बस यही 'व्यवहार नय हेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है' का अभिप्राय है।

माता-पिता ने हमारा पालन-पोषण किया, गुरु ने शिक्षा दी, भगवान की दिव्यध्वनि से हमें तत्त्वज्ञान हुआ, शास्त्रों से हमें ज्ञान हुआ, मंदिर जाने पर शुभ भाव होते हैं, दुकान पर जाने से अशुभ भाव होते हैं – यह सब निमित्त/संयोग का ज्ञान कराया गया है, व्यवहार नय का कथन है यह परमार्थ कथन नहीं है; परन्तु पाप से बचने और पुण्य में लगने के लिए, इसी प्रकार का उपदेश दिया जाता है।

जहाँ पर भी एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहा गया हो – वहाँ हमें समझना चाहिए कि यह व्यवहार नय का कथन है/निमित्त का ज्ञान कराया गया है। 'नैतिकता या अहिंसा' के उपदेश के लिए इस प्रकार का कथन किया गया है, सच में कोई जीव, किसी दूसरे जीव का जन्म-

Created by Universal Document Converter

मरण, लाभ-हानि इत्यादि कार्य नहीं कर सकता।

शुभ राग भी अर्थात् दर्शन, पूजन, व्रत आदि भी बंध के कारण हैं, यह सुनकर इनको त्याग कर पाप में नहीं जाना; इस कथन का दृष्टिकोण मात्र उन्हें मोक्ष का कारण नहीं मानकर वीतराग भाव का पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देना है।

निश्चय नय या उपादान की मुख्यता का कथन स्वच्छन्द होकर पाप में जाने/प्रमादी होने के लिए नहीं है और व्यवहार नय या निमित्त को कर्ता कहने का कथन कर्तृत्व बुद्धि का पोषण करने के लिए अर्थात् कर्तापने का अहंकार करने के लिए नहीं है।

जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है, अतः जिन क्रियाओं में कम से कम हिंसा होती हो, मिथ्यात्व का पोषण नहीं होता हो, वे क्रियाएँ ही स्वीकार्य हैं।

आत्मानुभूति का नाम जैनधर्म है अर्थात् जहाँ पर आत्मा को जानने, उसकी रुचि करने, उसकी प्रतीति करने से धर्म होता है, यह कहा गया है, वही जैनधर्म है।

आध्यात्मिक ग्रन्थों/निश्चय नय के कथन के अनुसार अपना अभिप्राय/मान्यता एवं चरणानुयोग के अनुसार अपनी प्रवृत्ति रखना चाहिए अर्थात् ज्ञानी जीव की वैसी प्रवृत्ति सहज होती है।

हमें भाषा नहीं, भाव बदलने के लिए जिनवाणी पढ़ना है।

जिनवाणी/चारों अनुयोगों का प्रयोजन मिथ्यात्व, पाप, विषय-कषाय छुड़ाकर, पुण्य में लगाकर, वीतरागता प्राप्ति के लिए ही है।

जिनवाणी के कथनों में विरोधाभास दिख सकता है; पर विरोध है नहीं, अतः हमें प्रत्येक वचन का दृष्टिकोण समझने का प्रयास करना चाहिए।

Created by Universal Document Converter

उपादान-निमित्त कार्य के कारण हैं। निश्चय नय से उपादान को और व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहा जाता है। जब भी जीवन/मरण, लाभ-हानि, सुख-दु:ख, संसार-मोक्ष रूप कोई भी कार्य होता है, तब दोनों ही कारण होते हैं। कथन किसी एक कारण की मुख्यता से किया जाता है।

वस्तु अनंत धर्मात्मक है, अत: उसके विवेचन हेतु कथन भी परस्पर विरोधी भी होते हैं, हमें उनमें किसी को भी गलत नहीं समझना चाहिए, उनका दृष्टिकोण समझकर आत्महित करना चाहिए।

❁❁❁

क्रमबद्ध

जो, जिसमें, जब, जैसे होना, प्रभु ने सब ही देखा है।
होगा कौन निमित्त वहाँ पर, सबका लेखा-जोखा है।।
कहें, सुनेंगे, जानेंगे सब, मानेंगे पर विरले ही।
परिवर्तन की वांछा से ही, रहें अज्ञजन सदा दुखी।।
होते हुये कार्य को जानो, न परिवर्तन चाह करो।
सत्य समझकर स्वीकृत करना ही सच्चा पुरुषार्थ अहो।।
है प्रत्येक द्रव्य अरु गुण का, कार्य पूर्णत: निश्चित ही।
समवायों की निश्चितता ही, क्रमनियमित-क्रमबद्ध कही।।
अपने सोचे, किये न होता, तब फिर क्यों आकुलता हो।
निर्भय अरु निर्भार रहो तुम, ज्ञाता हो ज्ञाता ही रहो।।
अचलित वस्तुव्यवस्था है यह, वीर प्रभु ने जानी है।
सुखमय जीवन वही है जीता, जिसने इसको मानी है।।
कर्तापन का मान गलित हो, जो करता स्वीकार है।
वीतराग-सर्वज्ञ प्रभु को, वंदन शत-शत बार है।।

Created by Universal Document Converter

28

ज्ञान (आत्मा) पर प्रकाशक है और पर प्रकाशक नहीं, मात्र स्व प्रकाशक है

आध्यात्मिक जगत में ज्ञान पर प्रकाशक है या नहीं यह बहुत ही चर्चित विषय है। उक्त कथन के दृष्टिकोण को समझे बिना हमारी मति भ्रमित हो जाती है, अत: उक्त कथनों के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है।

जब यह कहा जाता है कि 'आत्मा अथवा ज्ञान पर प्रकाशक है' इसका अर्थ यह है कि ज्ञान पर्याय में जो ज्ञेयाकार बना है तदनुरूप ही बाह्य में घर, दुकान, मोबाइल, कार, बाजार, स्त्री-पुरुष आदि पदार्थ हैं, अत: ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान ने पर को जाना, आत्मा ने पर को जाना और लोकालोक प्रतिबिंबित होने से सर्वज्ञ परमात्मा ने लोकालोक को जाना।

दूसरा कथन आता है कि 'ज्ञान पर को नहीं जानता, मात्र स्व को ही जानता है।' इसका अभिप्राय यह है कि सच में देखा जाए तो ज्ञान पर को नहीं; परन्तु ज्ञान, ज्ञान को ही जानता है। ज्ञान ज्ञेयों में नहीं जाता, ज्ञेय ज्ञान में नहीं आते; फिर भी ज्ञान पर्याय में अपनी सामर्थ्य से स्वकाल में सहज ही ज्ञेय जैसा आकार बनता है, जो कि 'ज्ञान' ही है अत: सच में प्रतिसमय ज्ञान में ज्ञान ही प्रकाशित होता है।

ज्ञान में स्वयमेव बनने वाले ज्ञेयाकारों को ज्ञेय कहना व्यवहार है, अत: ज्ञान में ज्ञेय को जाना - ऐसा कहना/जानना व्यवहार हुआ और उन्हीं ज्ञेयाकारों को ज्ञान ही कहना यथार्थ है; अत: ज्ञान ने स्वयं को ही जाना - ऐसा कहना/जानना निश्चय हुआ, वस्तुत: ज्ञेयाकार प्रतिबिंब की रचना ज्ञान का ही प्रकाशन/परिणमन है, उसे ज्ञेय कहना व्यवहार है।

Created by Universal Document Converter

जिस प्रकार हम आँख के द्वारा दूसरे को जानते हैं – ऐसा कहते हैं; परन्तु सच में तो दूसरा/पर नहीं, आँख की पुतली में जो आकृति बनती है, वह ही जानने में आती है, यदि कदाचित् आँख में विकार हो तो बाहर पदार्थ कितना भी सुन्दर हो, तब भी दिखाई नहीं देता या पदार्थ कुछ होता है और हमें कुछ और दिखाई देता है; क्योंकि आँख में उसी प्रकार की आकृति बन रही है ।

इसी तरह बाहर में पदार्थ कोई भी हो; परन्तु ज्ञान की पर्याय में स्वयं की क्षयोपशम रूप योग्यता से जो ज्ञेय जानने में आना है अर्थात् जो प्रतिबिंब ज्ञान में बनता है, आत्मा या ज्ञान सच में उसे ही जानता है, अन्य पदार्थ को नहीं; इसलिए ज्ञान ने ज्ञान को जाना अर्थात् ज्ञान स्व प्रकाशक ही है ऐसा कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि जब ज्ञान ज्ञेय के अनुसार नहीं जानता, अपनी योग्यतानुसार ही जानता है, तब फिर हमें उसी पदार्थ का ही ज्ञान क्यों होता है जो बाहर होता है? अगर ज्ञान अपनी योग्यता से जानता है तो फिर ज्यों का त्यों ज्ञान क्यों हुआ? अन्य रूप भी तो हो सकता था।

यह ज्ञान की ही स्वच्छता है कि जो ज्ञान में प्रतिबिम्ब बन रहा है, वैसा ही पदार्थ बाहर है। यदि ज्ञान में बिल्ली जानने में आवे और बाहर कुत्ता हो, तो वह ज्ञान की स्वच्छता/निर्मलता नहीं कहलाएगी, ज्ञान की कमजोर अवस्था कहलायेगी, विकृत अवस्था कहलायेगी; इसलिए जब ज्ञान अपने स्वभाव/स्वच्छतारूप परिणमित होता है, तब जैसा ज्ञेय हो, वैसा ही स्वयं की योग्यता से जानने में आता है और ज्ञेय की मुख्यता से कथन करने पर ज्ञान 'पर प्रकाशक' भी कहा जाता है परन्तु सच में तो ज्ञान, ज्ञान का ही प्रकाशक है।

ज्ञेय जैसा आकार ज्ञान में, ज्ञान का बनने के कारण, ज्ञान को ज्ञेयाकार भी कहा जाता है और सच में वह आकार ज्ञान से ही बना हुआ

Created by Universal Document Converter

है, भले ही बस, रेल, कार, मोबाइल का आकार हो; परन्तु उस आकार में बस, रेल, कार का कुछ भी अंश नहीं है; अपितु ज्ञान ही ज्ञान है; इसीलिए सच में उसे ज्ञानाकार ही समझना चाहिए - ऐसा समझने में मिथ्यात्व नहीं होता।

मोह के कारण उस ज्ञानाकार में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि या एकत्व-ममत्व, कर्तत्व-भोक्तृत्व आदि बुद्धि होना मिथ्यात्व है। ज्ञानियों और केवली भगवंतों के ज्ञान में भी ज्ञेयाकार परिणमन होता है; परन्तु वह मिथ्यात्व नहीं, अपितु ज्ञान के स्वच्छ भाव का परिणमन है।

जब हम प्रथम कथन अर्थात् ज्ञान 'पर प्रकाशक' है के अनुसार ही अपनी श्रद्धा करते हैं, तो ज्ञान को पराधीन मानते हैं, ज्ञेय होंगे तो ही ज्ञान जानेगा ऐसा मानते हैं। हमारा काम पर को जानना है, ऐसा मानकर पर को जानने का पुरुषार्थ करते हैं, ज्ञेयों को लक्ष्य कर राग-द्वेष करते हैं और कर्म बंधन करते हुए संसार/दुःख ही प्राप्त करते हैं।

दूसरे कथन 'ज्ञान पर को नहीं, अपितु ज्ञान को ही जानता है' अर्थात् जो कुछ भी ज्ञेयों का ज्ञान हो रहा है, वह ज्ञेयों की नहीं अपितु मेरी ही सामर्थ्य है। अतः ज्ञेयाकारों में भी सामान्य ज्ञान स्वभाव की दृष्टि करने से अर्थात् उसी का लक्ष्य करने से परोन्मुखी वृत्ति सहज छूट जाती है और सम्यग्दर्शन के साथ 'निज में निज, पर में परभासक' सम्यग्ज्ञान प्रकट हो जाता है। बाहर में कोई पदार्थ जानने योग्य नहीं है, सुखकर नहीं है; अतः हम क्यों परोन्मुखी वृत्ति करें, ज्ञान की सामर्थ्य को जानकर हम ज्ञानमय ही रहें, ज्ञायक के ही ज्ञायक बने ऐसी श्रद्धा होती है। यही मुक्ति मार्ग है, यही सुख का कारण है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

29

आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त है और आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है?

1. जिनवाणी में संयोगी भावों के सद्भाव एवं अभाव के निमित्त से आत्मा की होने वाली विभिन्न अवस्थाओं को प्रमत्त-अप्रमत्त दशा के नाम से जाना जाता है।

पहले गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक की अवस्थाओं को प्रमाद दशा सहित होने के कारण प्रमत्त एवं सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक की अवस्थाओं को प्रमाद रहित अवस्था होने के कारण अप्रमत्त कहा जाता है।

इसे ही अन्य प्रकार से कहें तो पहले से छठवें गुणस्थान तक राग की मुख्यता से होने वाली अवस्थाएँ और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक की वीतरागता की मुख्यता से होने वाली अवस्थाएँ हैं। ये सभी अवस्थाएँ संसार अवस्था में जीव में होती हैं, जीव में ही होती हैं, अन्य किसी में नहीं होतीं, इसलिए इन पर्यायों/अवस्थाओं की मुख्यता से यदि कथन किया जाए तो जीव प्रमत्त भी है और अप्रमत्त भी है अर्थात् पर्यायों के प्रवाहक्रम की ओर से देखा जाये, तो आत्मा रागी है और राग का अभाव करके वीतरागी भी होता है। रागी होने से दुखी भी है और वीतरागी होने पर सुखी भी होता है।

2. जीव को जब हम द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा से देखते हैं, तो जीव द्रव्य तो कभी भी कषाय भाव रूप या पुण्य-पाप रूप परिणमित नहीं होता। जब जीव कषाय भाव रूप परिणमित नहीं होता, तो उसे प्रमत्त नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कषाय भाव रूप परिणमित होने अर्थात् पुण्य-पाप रूप होने पर ही जीव, प्रमादी अथवा प्रमत्त कहलाता है और

Created by Universal Document Converter

जब जीव प्रमत्त ही नहीं हुआ; तो प्रमत्त अवस्था का त्याग कर, अप्रमत्त होने का प्रश्न ही नहीं होता।

जब जीव राग रूप नहीं हुआ, तो राग का अभाव करके वह वीतरागी भी नहीं होता। इस तरह सच में आत्मा द्रव्य स्वभाव से न रागी है, न वीतरागी। रागी नहीं हुआ, तो दुखी भी नहीं हुआ और वीतरागी नहीं होगा, तो सुखी भी नहीं होना, आत्मा तो त्रिकाल सुख स्वभावी ही है।

इस तरह द्रव्य स्वभाव से जीव ना तो पहले से छठवें गुणस्थान तक प्रमत्त स्वरूप है और ना ही सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक की अप्रमत्त अवस्था रूप है अर्थात् आत्मा तो गुणस्थानातीत है, गुणस्थान की कक्षाओं से भिन्न, एकमात्र त्रिकाल ज्ञायक है। ज्ञायक वस्तु स्वरूप है, विद्यमान है और वह ज्ञायक भी पर को जानने के कारण से नहीं; बल्कि अपने ज्ञान स्वभाव से ही ज्ञायक कहलाता है, अतः किसी भी रूप में आत्मा को अशुद्धता आती ही नहीं है।

'आत्मा प्रमत्त है और अप्रमत्त भी है' इस प्रथम कथन को जानकर हम आत्मा की सभी अवस्थाओं का ज्ञान तो कर सकते हैं; परन्तु इन अवस्थाओं रूप ही आत्मा को मानने से 'पर्यायदृष्टि' होने के कारण मिथ्यात्व बना रहता है।

द्वितीय कथन के अनुसार आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त इन सब अवस्थाओं से भिन्न "अनादि-अनंत, चैतन्य स्वभावी ज्ञायक मात्र है" - ऐसा मानकर, स्वीकार कर द्रव्यदृष्टि होने से हम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर, मोक्षमार्ग में लग सकते हैं।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

30

इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान है या नहीं

आध्यात्मिक चर्चाओं के अंतर्गत यह विषय अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है कि 'इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान है या नहीं।'

1. सच में तो ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान आत्मा में ही है, आत्मा का ही है, आत्मा के लिए ही है; परन्तु सांसारिक अवस्था में ज्ञान का इन्द्रियों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को देखकर ही, जो ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा प्रवृत्त होता है उसे इन्द्रिय ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान इन्द्रियों का नहीं, आत्मा का ही है, इन्द्रियाँ उसमें निमित्तमात्र हैं, अतः इन्द्रिय ज्ञान भी ज्ञान ही है।

2. द्वितीय पक्ष यह है कि इन्द्रियों के द्वारा जो भी ज्ञान होता है, वह विशेष रूप से पुद्गल द्रव्य की ही अवस्थाओं का ज्ञान कराने में कारण होता है, इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान, अपने आपको तो जान ही नहीं पाता अर्थात् आत्मज्ञान तो होता ही नहीं है; साथ ही अन्य चार अमूर्तिक द्रव्यों का भी ज्ञान नहीं होता।

जिस ज्ञान से, अपना ज्ञान ना हो, जो अपने सुख के कारण रूप ज्ञान ना हो, जिससे मात्र परद्रव्यों का ही ज्ञान हो और जो पर का अवलम्बन लेता हुआ उत्पन्न होता है, वह ज्ञान आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकता है?

जिस प्रकार पुत्र वही है, जो माता-पिता की सेवा करे, माता-पिता का यश फैलाए। जो पुत्र, माता-पिता को सुख नहीं देता, माता-पिता का यश नहीं फैलाता वह पुत्र, पुत्र कहलाने योग्य नहीं है।

इसी प्रकार जो ज्ञान, ज्ञानी अर्थात् आत्मा का अनुभव ना करावे, आत्मा को सुख प्रदान ना करे, मात्र परद्रव्यों के ज्ञान में ही निमित्त हो उसे सच में ज्ञान ही नहीं कहा गया है, वह भी चैतन्य की तरंग होने से

Created by Universal Document Converter

स्वभाव का अंश होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान कहलाने योग्य नहीं है।

आचार्यदेव ने समयसारजी में द्रव्य इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ इन तीनों को ही इन्द्रिय कहकर, आत्मा से भिन्न बतलाया है।

शरीर रूप जो जड़ इन्द्रियाँ हैं, जिन्हें द्रव्य इन्द्रियाँ कहते हैं, वे तो पर हैं ही; परन्तु जो क्षायोपशमिक ज्ञान रूप भाव इन्द्रियाँ हैं, वे भी अखंड आत्मा का ज्ञान न कराकर, खंड-खंड ज्ञान रूप परिणमित होती हैं इसलिए वे भी आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं और इन इन्द्रियों के माध्यम से जो परद्रव्यों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान और वे ज्ञेय जीव को सुखद नहीं हैं, जीव का स्वरूप नहीं हैं, जीव से अत्यन्त भिन्न हैं; अतः ये तीन रूप इन्द्रियाँ और इन के माध्यम से होने वाला ज्ञान सच में ज्ञान नहीं है; क्योंकि ज्ञान को अतीन्द्रिय आनन्द का सहभावी है।

जीव अनादिकाल से इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले ज्ञान को अपना ज्ञान समझ कर, अपना स्वरूप समझ कर, उससे अपनी महिमा समझता है, उससे अपने आप को बड़ा मानता है और इस तरह क्षायोपशमिक ज्ञान में अटक कर, परद्रव्य में भटक कर, अपने सर्वज्ञ स्वभाव से दूर ही रह जाता है, इसलिए पर्यायों से भिन्न बताने एवं पर्यायों का ज्ञान करने वाले ज्ञान से भिन्न बताकर अपने ज्ञान को अपने में लगाने की मुख्यता से यह कथन किया गया है कि इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान नहीं है।

जिस तरह इन्द्रिय सुख, तुच्छ/हेय/आकुलतामय होने से सुख नहीं है; उसी प्रकार इन्द्रिय ज्ञान भी पर की प्रसिद्धि कराने वाला, पराधीन एवं अपने मूल स्वभाव से दूर रहने/रखने वाला होने से ज्ञान ही नहीं है।

इस तरह इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान नहीं है, इस कथन का आध्यात्मिक दृष्टिकोण समझकर, स्वतन्त्रता का अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए। ❀❀❀

Created by Universal Document Converter

सोलह कारण भावनाएँ यदि बंध का कारण हैं, तो उनकी पूजन क्यों ?

हम सभी सोलह कारण पर्व, बहुत ही उत्साह पूर्वक मनाते हैं एवं इन पर्वों में सोलह कारण भावनाओं की चर्चा एवं सोलह कारण पूजन भी किया करते हैं।

जब हम आगम के आधार से विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि सोलह कारण भावनाओं के द्वारा, किन्हीं विशिष्ट सम्यग्दृष्टि पुरुषों को नाम कर्म की सर्वोत्कृष्ट प्रकृति, तीर्थंकर नाम कर्म प्रकृति का आस्रव-बंध होता है।

तब प्रश्न होता है कि जो भाव कर्म बंध का कारण हों, भले ही उस कर्म का नाम कुछ भी हो; परन्तु है तो वह कर्म और उसका बंध हो रहा है, तब फिर वे भावनाएँ पूज्य कैसे हो सकती हैं ? उनकी पूजन क्यों की जाती है ?

इस प्रश्न अथवा शंका के समाधान में एक तर्क तो यह प्रस्तुत किया जाता है - सोलह कारण पूजन में सोलह कारण भावनाओं की पूजन नहीं है, अपितु जिन जीवों ने सोलह कारण भावना भाकर तीर्थंकर पद की प्राप्ति की है, उनकी पूजन की जा रही है। जैसा कि पूजन में लिखा है -

'सोलह कारण भाय तीर्थंकर जे भये'

अर्थात् सोलह कारण भावनाओं को भाकर जो तीर्थंकर हुए, जिन्हें जन्म कल्याणक के समय हर्षित होकर, इन्द्र सुमेरु पर्वत पर ले गए, जन्माभिषेक किया उनकी पूजन की जा रही है, इसलिए हमें यह

Created by Universal Document Converter

समझना चाहिए कि सोलह कारण भावनाओं का राग पूज्य नहीं है; अपितु वीतरागता को प्राप्त तीर्थंकर परमात्मा ही पूज्य हैं।

पूर्वोक्त शंका का दूसरा समाधान हम इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि सच में तो राग मात्र बंध का कारण होने से पूज्य नहीं है, अतः यह भावनाएँ भी पूज्य नहीं हैं; परन्तु रागी जीव को वीतरागता की ओर ले जाने वाले, आत्मा का वास्तविक स्वरूप बतलाने वाले, दुख से निकालकर सुख की ओर पहुँचाने वाले, बंध मार्ग से मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने वाले अर्थात् मोक्ष मार्ग प्रदर्शित करने वाले, तीर्थंकर परमात्मा जिन भावों के कारण से होते हैं, जो तीर्थंकर परमात्मा त्रिभुवन तिलक हैं, जिनके निमित्त से असंख्य जीवों का कल्याण होता है, ऐसा तीर्थंकर पद जिन भावनाओं के निमित्त से प्राप्त होता है, रागी जीव उन कारणों का भी सम्मान करते हैं, उनकी भी पूजन करते हैं, प्रशंसा करते हैं। ऐसी भावनाएँ स्वयं को उत्पन्न हों – ऐसी भावना भाते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का बंध जिन जीवों को होता है, उन जीवों की तो मुक्ति सुनिश्चित हो ही जाती है साथ ही उन तीर्थंकर परमात्मा के निमित्त से अनेक जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होगी, यह भी सुनिश्चित हो जाता है; अतः व्यवहार दृष्टि से उन भावनाओं को भी प्रशंसनीय/अभिनंदनीय कहा जा सकता है। ज्ञानी के शुभ भावों को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा ही गया है।

सच में तो वीतरागता ही पूज्य है, वीतरागता ही प्राप्त करने योग्य है, वीतरागता ही सुख का कारण है, राग तो बंध का ही कारण है। इस तरह हम आगम में जो भी कथन हों उन कथनों का वीतरागता पोषक दृष्टिकोण समझ कर हित के मार्ग में लग सकते हैं।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

32

अकर्तृत्व-स्वकर्तृत्व-सहज कर्तृत्व

जैनदर्शन 'अकर्तावादी' दर्शन है; पर साथ ही 'अनेकान्तवादी' अथवा 'स्याद्वादी' दर्शन भी कहलाता है। इसका अर्थ है कि अकर्तावाद में भी स्याद्वाद या कथंचित्वाद भी अवश्य ही है। जिनागम में आत्मा का 'अकर्तृत्व' 'स्व-कर्तृत्व' और 'सहज-कर्तृत्व' निरूपित किया जाता है, अत: उक्त विशेषणों के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है।

1. अकर्तृत्व – हम जब भी आध्यात्मिक ग्रंथों का स्वाध्याय करते हैं, तो वहाँ आत्मा का 'अकर्तृत्व' सिद्ध किया जाता है।

आत्मा को उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से परिवार-दुकान-संस्था का संचालक तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से शरीर को जीव का कहा जाता है। शरीर से जीव की पहचान मनुष्य, स्त्री-पुरुष और उनकी क्रियाओं के कर्ता आदि के रूप में कही जाती है; परन्तु वे सभी पदार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय और द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा भिन्न हैं। सच में तो आत्मा का मकान-दुकान, रुपया-सोना व शरीर से अत्यन्ताभाव है। जिनके साथ अत्यन्ताभाव हो उनका कर्ता प्रयोजनवश/निमित्त की अपेक्षा भले कहा जाता हो; परन्तु सच में आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

आत्मा राग-द्वेष आदि भावों का कर्ता भी, उपचरित सद्भूत व्यवहार नय से कहा जाता है। मोह-राग-द्वेष भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं; परन्तु वे कर्म के उदय से होने वाले भाव हैं, कर्मज भाव हैं, औदयिक भाव हैं, जीव के स्वभाव नहीं हैं; इसलिए जीव सच में उनका भी कर्ता नहीं है।

आत्मा को अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय से शुद्ध पर्याय का कर्ता,

Created by Universal Document Converter

रागादि का अकर्ता सिद्ध करने के लिए ही कहा जाता है। सच में शुद्ध पर्याय भी, अपनी सहज योग्यता से उत्पन्न होती है, आत्मा उसका भी कर्ता नहीं है। आत्मा तो स्वभाव से अनादिकाल से ही शुद्ध है, यदि आत्मा शुद्ध पर्याय का कर्ता हो, तो अनादि से ही पर्याय शुद्ध होना चाहिए; परन्तु स्वभाव शुद्ध होते हुए भी, पर्याय अपनी योग्यता से अशुद्ध-शुद्ध रूप उत्पन्न होती है; इसलिए आत्मा वास्तव में अकर्ता है, अर्थात् मात्र 'ज्ञाता' है।

इस तरह 'अकर्तृत्व' सिद्ध करके आत्मा का 'ज्ञातृत्व' सिद्ध किया जाता है। हम कर्तापने के भार से निर्भार होकर मात्र ज्ञाता रहें।

2. स्वकर्तृत्व – दूसरा कथन आता है कि जीव पर का कर्ता नहीं मात्र 'स्व' अर्थात् अपनी पर्यायों का ही कर्ता है।

जहाँ ऐसा कथन हो, वहाँ हमें समझना चाहिए कि परद्रव्य और परद्रव्य के भावों का अकर्ता सिद्ध करने के लिए जीव को राग आदि भावों का कर्ता कहा जा रहा है; क्योंकि राग आदि भाव होते तो जीव में ही हैं, पुद्गल में या पर द्रव्य में नहीं होते; अतः उन स्व-भावों का कर्ता कहा जा रहा है, और वे राग-द्वेष-क्रोध आदि भाव, भले ही जीव में उत्पन्न होते हों; परन्तु वे जीव के स्वभाव नहीं हैं; इसलिए जीव में उत्पन्न होते हुए, जीव के चारित्र गुण की पर्याय होते हुए भी, वास्तव में वे जीव के स्वाभाविक भाव नहीं हैं; इसलिए उनका अकर्ता सिद्ध करके जीव को अपनी 'शुद्ध पर्याय' अथवा मात्र 'जानन पर्याय' का कर्ता कहा जाता है, यही अपनी शुद्ध पर्याय का 'स्व-कर्तृत्व' कहलाता है। अध्यात्म में भेद-विज्ञान कराने की अपेक्षा, आत्मा और रागादि भावों के 'प्रदेश-भिन्न' कहे गये हैं। उन रागादि भावों का अकर्तापना/ज्ञातापना स्वीकार करने के लिए 'स्व कर्तृत्व' कहा जाता है।

3. सहज कर्तृत्व – आत्म द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें 'कर्तृ'

Created by Universal Document Converter

नाम की शक्ति भी है, तदनुसार जीव अपनी पर्यायों/कार्य/कर्म का कर्ता भी अनादि काल से सहज ही है और वे पर्यायें स्वकाल में सहज ही उत्पन्न हो रही हैं।

हम वर्तमान जीवन में भी देखते हैं कि हम जब क्रोध करना चाहते हैं, प्रेम करना चाहते हैं, तब नहीं होता। जब हम याद करना चाहते हैं, तब याद नहीं होता। जब हम किसी को जानना चाहते हैं, जान नहीं पाते। हम सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करना चाहते; पर सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता। हम असंयम त्याग कर, संयम धारण करना चाहते; पर नहीं होता। मुनिराज अरहन्त बनने के लिए दीक्षा लेते हैं; परन्तु तीर्थंकर का जीव भी हजारों वर्षों तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं कर पाता। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद भी हजारों वर्षों तक सिद्ध दशा की प्राप्ति नहीं होती; जबकि 'नमः सिद्धेभ्यः' कहकर दीक्षा ली थी अर्थात् दीक्षा लेने का लक्ष्य एकमात्र सिद्ध दशा था, अरहन्त बने रहना नहीं। चाहे क्रोध-मान-माया-लोभ की पर्याय हो अथवा क्षमा-मार्दव की पर्याय हो अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय हो या मुनि दशा हो या अरहन्त-सिद्ध दशा हो, सच में सब अपनी योग्यता से स्व काल में ही उत्पन्न होती हैं और जीव में 'कर्तृ' शक्ति होने से उसे उनका कर्ता भी कहा जाता है, यही 'सहज कर्तृत्व' है।

'सहज कर्तृत्व' स्वीकार कर 'कर्तृत्व' का भार, भाड़ में झोंककर, 'ज्ञातृत्व' स्वीकार करने के लिए ही सभी कथन हैं। 'ज्ञातृत्व' स्वीकार करने में ही अकर्तृत्व, स्व कर्तृत्व, सहज कर्तृत्व की सहज स्वीकृति है, यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मुक्ति मार्ग है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

33

दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल है या नहीं ?

1. सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा निरूपित, 'शाश्वत वस्तु स्वरूप' प्रतिपादित करते हुए आचार्य देव लिखते हैं कि 'द्रव्य के बिना गुण नहीं होता, गुण बिना द्रव्य नहीं होता, द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती, पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। द्रव्य-गुण-पर्याय में अन्यत्व होते हुए भी, भिन्नत्व नहीं है। उनमें अतद्भाव होते हुए भी कथंचित् अभेदता है, उनको अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। पर्याय स्वतंत्र रूप से पृथक् पदार्थ नहीं है, वह द्रव्य का ही एक अंश है, जो एक क्षण की होते हुए भी, अनादिकाल से हो रही है और अनंत काल तक होती रहेगी। वही की वही नहीं होगी; परन्तु कोई न कोई पर्याय अवश्य होगी। जिस तरह द्रव्य अनादि-अनंत रहेगा, उसी तरह द्रव्य की पर्याय सामान्य भी रहेगी, चाहे अशुद्ध हो या शुद्ध।

2. दूसरा कथन आता है कि 'दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल नहीं है।'

तब शंका होती है कि जब दृष्टि के विषय में पर्याय नहीं है, तो क्या वास्तव में द्रव्य में पर्याय नहीं है ? यदि प्रथम कथन के अनुसार सच में द्रव्य में पर्याय है, तो दृष्टि के विषय में पर्याय नहीं है, इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

प्रथम कथन में सर्वज्ञ कथित वस्तुस्वरूप का अपरिवर्तनीय स्वरूप ही कहा गया है, जो कि ज्ञान की मुख्यता से किया गया कथन है, श्रद्धा/दृष्टि/सम्यग्दर्शन की मुख्यता से नहीं; इसलिए 'द्रव्य में पर्याय है ही नहीं - ऐसा अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए।'

'दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल नहीं है', इसका अर्थ यह है कि 'दृष्टि' स्वयं पर्याय है, दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन/श्रद्धा गुण की पर्याय, वह

Created by Universal Document Converter

द्रव्य को विषय/ग्रहण करती है। विषय/ग्रहण करने वाली पर्याय यदि विषय में शामिल हो जायेगी, तो विषय करने वाला कौन होगा?

विषय करने वाली पर्याय, अपने विषय में, अपने को स्वतंत्र रखते हुए सम्मिलित नहीं करती है; बल्कि दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन की वह पर्याय, द्रव्य की पूर्णता-अखंडता-अभेदता को ही स्वीकार करती है और अपने आपको पर्याय रूप, भेद रूप, एक समय की न देखकर, अनंत और अखंड रूप में ही स्वीकार करती है। पर्याय को पर्याय दिखाई ही नहीं देती। इस तरह वहाँ पर्याय होते हुए भी 'पर्याय' दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं होती है।

'दृष्टि' अर्थात् श्रद्धा गुण की पर्याय के अतिरिक्त, अन्य अनन्त गुणों की पर्यायें, उस द्रव्य में सम्मिलित हैं, वे सब अभेद रूप से हैं। अनन्त गुणों के अखंड पिंड को ही द्रव्य कहते हैं। द्रव्य को अखंड रूप से ही वह पर्याय स्वीकार करती है, यही उस श्रद्धा गुण की 'विशिष्ट पर्याय' की विशेषता है।

जिस प्रकार एक्स-रे की मशीन हड्डी के ऊपर मांस, खून, चमड़ी होते हुए भी, उन्हें गौण करके हड्डी को ही लक्ष्य करके, उसका ही फोटो लेती है।

उसी प्रकार पर्याय, द्रव्य में गुण-पर्याय के भेद होते हुए भी एक, अखंड, अभेद द्रव्य को ही लक्ष्य करती है, अपना पूरा अस्तित्व द्रव्य को ही समर्पित करती है। इस प्रकार से कहा जाता है कि दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल नहीं है। 'दृष्टि ने अपना कोना-कोना मात्र द्रव्य के लिए ही खाली कर दिया है।' पूरी पर्याय में द्रव्य ही फैला हुआ है, पर्याय में फैलते हुए भी पर्याय अपने आप को स्वतंत्र रूप से वहाँ स्वीकार नहीं करती। इस अखंड-अभेद सामान्य की 'अनुभूति' का नाम ही सम्यग्दर्शन है।

❀❀❀

Created by Universal Document Converter

34

हेय-ज्ञेय-उपादेय

मोक्षमार्ग अर्थात् सुखी होने के मार्ग में सात तत्त्व का ज्ञान अत्यावश्यक है; परन्तु मात्र सात तत्त्वों की परिभाषाएँ भेद-प्रभेद जान लेना कार्यकारी नहीं होता है। सात तत्त्व को जानकर, उनमें स्व-पर और हितकारी-अहितकारी भावों की पहचान करना अत्यावश्यक है। इस पहचान को हेय-ज्ञेय-उपादेय रूप से भी विभाजित करने की पद्धति है। हेय=छोड़ने योग्य, ज्ञेय=जानने योग्य, उपादेय=ग्रहण/स्वीकार करने योग्य।

सामान्यतया तो जीव-अजीव, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा-मोक्ष - ये सात तत्त्व ज्ञेय तो हैं ही; क्योंकि 'बिन जानें तैं दोष-गुनन को कैसे तजिये-गहिये।' गुण-दोषों को जाने बिना ग्रहण और त्याग नहीं किया जा सकता अतः सभी तत्त्व ज्ञेय हैं।

विशेष विवक्षा में, जीव तत्त्व आश्रय करने योग्य 'परम उपादेय' है।

अजीव तत्त्व 'ज्ञेय' मात्र है।

आस्रव-बंध तत्त्व अर्थात् मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भाव दुखद/संसार के कारण/औपाधिक/विकारी भाव होने से 'हेय' अर्थात् छोड़ने योग्य हैं।

संवर-निर्जरा शुद्ध परिणति है, मोक्ष सुख रूप हमारे लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग है; अतः 'एकदेश' उपादेय है।

मोक्ष तत्त्व पूर्ण सुख स्वरूप होने से प्राप्त करने या 'प्रकट करने योग्य उपादेय है।'

द्वितीय कथन यह भी आता है कि 'एकमात्र जीव तत्त्व ही परम उपादेय है, आश्रय योग्य उपादेय है।' संवर-निर्जरा-मोक्ष भी उपादेय नहीं है - ऐसा कहने का अभिप्राय आध्यात्मिक दृष्टि से, दृष्टि के विषय

Created by Universal Document Converter

का जोर बतलाने के लिए अर्थात् जीव तत्त्व ही परम उपादेय है, आश्रय करने योग्य है वही त्रिकाली शाश्वत है; संवर-निर्जरा-मोक्ष की पर्यायें भले ही शुद्ध हों; परन्तु वे त्रैकालिक नहीं हैं, पर्याय होने से क्षणिक हैं; अतः उन्हें उपादेय नहीं मानना चाहिए।

हमें उक्त दोनों कथनों का अभिप्राय समझना चाहिए जिससे मतिभ्रम नहीं होगा।

हेय और ज्ञेय के संबंध में यह भी जानने योग्य है कि –

'हेय' का अर्थ सर्वत्र, सर्वथा गंदा, मलिन, बुरा ही नहीं होता है। "जो हमारे प्रयोजन की सिद्धि में कार्यकारी नहीं है, जो प्रयोजन की सिद्धि में बाधक है, वह हेय है।" आस्रव-बंध तत्त्व दुखमय हैं, दुख के कारण हैं, स्वभाव से विपरीत हैं अतः हेय हैं।

इसी तरह 'ज्ञेय' शब्द का सामान्य अर्थ होता है 'जानने योग्य' परन्तु मोक्षमार्ग/आध्यात्मिक दृष्टि से 'ज्ञेय' का अर्थ 'जानने योग्य' इतना मात्र ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि इतना मात्र अर्थ ग्रहण करने पर पदार्थों को जानने की उत्सुकता होती है, जबकि पर को जानने से जीव को लाभ नहीं है, बल्कि 'उपयोग' का 'दुरुपयोग' ही है, अतः ज्ञेय का अर्थ 'कोई पदार्थ/द्रव्य अर्थात् स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, सोना-चांदी, रुपया-पैसा, मोबाइल, गाड़ी-बंगला यदि जानने में आ जाएं, तो उनमें अच्छे-बुरे का भेद नहीं करना, किसी से राग और किसी के प्रति द्वेष नहीं करके मात्र उनको जान लेना, क्योंकि वे मात्र 'ज्ञेय' हैं। वे ना तो ग्रहण करने योग्य हैं, ना त्याग करने योग्य हैं; क्योंकि वे हम से सर्वथा भिन्न हैं – ऐसा अर्थ/अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए।

विडंबना यह है कि जो अजीव तत्त्व के रूप में पुद्गल स्कंध हमारे सामने होते हैं, जैसे – दाल-रोटी-चावल, नमकीन, मिठाई, समोसा-कचोरी-पकौड़ी अथवा मन्दिर-मकान अथवा लाल-पीले-नीले कपड़े,

Created by Universal Document Converter

या गोरे-काले शरीर वाले स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध ये सब जानने में आने पर सच में ऐसा जानने योग्य हैं कि - इसे काला रंग कहते हैं, इसे गोरा रंग कहते हैं, यह मीठा है, यह खट्टा है, यह नमकीन है, यह समोसा है, यह पेड़ा है, यह लड्डू है ये सब मात्र ज्ञेय हैं; परन्तु हम अज्ञानता से उनमें ही हेय और उपादेय का भेद करने लगते हैं-आलू का समोसा हेय है, केले का समोसा उपादेय, लोहा हेय, सोना उपादेय।

किसी स्त्री-पुरुष को अच्छा समझते हैं, किसी को बुरा समझते हैं, कोई पदार्थ अच्छे लगते हैं, कोई बुरे लगते हैं, कोई अपने लगते हैं, कोई पराए लगते हैं, यह जो एकत्व-ममत्व की बुद्धि है, राग-द्वेष की बुद्धि है, सच में यही हेय है, त्यागने योग्य है, परपदार्थ तो भिन्न ही हैं।

विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं अर्थात् जो अपना नहीं है, उसे अपना मानना, जो अच्छा-बुरा नहीं है, उसे अच्छा-बुरा मानना, जो सुखद नहीं है, उसे सुखद, दुखद नहीं है उसे दुखद मानना, जो मैं स्वयं नहीं हूँ, उसे 'मैं' मानना - ऐसा मानने का नाम मिथ्यात्व है। जिनवाणी में मिथ्यात्व को हेय कहा है, छोड़ने योग्य कहा है, दुखद कहा है; परन्तु हम पदार्थों का त्याग करने लगते हैं, मिथ्या मान्यता का त्याग नहीं करते। हम परपदार्थों के छोड़ने को ही, मिथ्यात्व का छोड़ना समझ लेते हैं; जबकि मिथ्यात्व जाने के बाद भी, महापुरुषों के पास बाह्य पदार्थ बहुत मात्रा में हो सकते हैं एवं जिसके पास कुछ भी ना हो - ऐसे व्यक्ति के पास पूरा मिथ्यात्व रह सकता है।

इस तरह हम हेय-ज्ञेय-उपादेय का सही स्वरूप समझें। सच में तो इस विश्व में सबसे सुन्दर पदार्थ 'मैं, एक ज्ञायक भाव स्वयं ही हूँ' इसलिए मैं ही ज्ञेय हूँ, मैं ही श्रद्धेय हूँ, मैं ही उपादेय हूँ, यह स्वीकार कर निर्भार होना चाहिए; अन्य सब तो सहज ज्ञेय बने, तो बने, उनके ज्ञेय बनने या न बनने से आकुलता नहीं करना चाहिए। ❀❀❀

Created by Universal Document Converter

35

वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है

परमाराध्य वीतरागी–सर्वज्ञ–हितोपदेशी तीर्थंकर परमात्मा द्वारा सभी जीवों के कल्याण हेतु मुक्ति अर्थात् सुख का मार्ग उद्घाटित किया गया है, जिसे परम पूज्य दिगम्बर आचार्यों द्वारा जीवों की योग्यता सामर्थ्य को देखते हुए चार अनुयोगों के माध्यम से प्रकट किया गया है।

आचार्य भगवन्तों ने, अपनी लेखनी से जो वस्तुस्वरूप हमारे हित के लिए निरूपित किया है, वह विभिन्न परिस्थितियों, विभिन्न जीवों की बुद्धि–लब्धि इत्यादि को देखते हुए, जिस प्रकार परम हितैषी माता–पिता पुत्र के हित के लिए विभिन्न प्रकार के कथन करते हैं – माँ लाड़–प्यार से समझाती है, तो पिता डांट कर मार्ग दिखाते हैं; परन्तु दोनों का ही उद्देश्य पुत्र का हित ही होता है; उसी प्रकार जिनवाणी या आचार्य भगवन्तों का उद्देश्य हमारा हित ही है।

जिनवाणी चार अनुयोगों में विभिन्न नयों के माध्यम से लिखी गई है; इसलिए कथनों में विभिन्नताएँ हैं, कहीं–कहीं विरोधाभास दिखाई देता है; परन्तु यदि हम उन सभी कथनों का अभिप्राय अपना हित समझेंगे, वस्तु की स्वतंत्रता, वीतरागता के रूप में समझेंगे तो ही हमारा हित होगा।

जिस तरह, माँ रसोई में से अचानक कह देती है कि "भोजन करने के लिए अभी थोड़ी देर रुकिये अभी पापा की चटनी बना रही हूँ।" व्याकरण की दृष्टि से इस वाक्य में सम्प्रदान की जगह सम्बन्ध कारक का प्रयोग किया गया है, अतः इसमें कारक व्यभिचार होने से यह भाषा दोष पूर्ण होने पर भी लोकमान्य हो गयी है।

यहाँ इस वाक्य का अभिप्राय 'पापा की चटनी बनाना नहीं' बल्कि 'पापा के लिए चटनी बनाना है'। लोक में हम इस प्रकार के कथनों का अर्थ समझ जाते हैं; परन्तु जिनवाणी माँ के अभिप्राय को हम नहीं समझ

Created by Universal Document Converter

पाते। यदि हम अपना हित करना चाहते हैं, तो हमें यह समझना ही चाहिए कि जिनवाणी वीतरागता की पोषक है।

जिनवाणी वस्तुस्वरूप की उद्घाटक है अर्थात् जिनवाणी में वस्तु की स्वतंत्रता का उद्घोष किया गया है।

जैन दर्शन अकर्तावादी दर्शन है। जैन दर्शन वस्तु का अनेकांतात्मक स्वरूप स्याद्वाद शैली में समझाता है।

जिनवाणी में प्रयोजनवश भगवान को मोक्षमार्ग का प्रणेता, जीवों का उद्धारक भी कहा गया है। पुराणों में एक दूसरे को मारने-बचाने, सुखी-दुखी करने, ग्रहण व त्याग करने के कथन हैं, तो दूसरी ओर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-धर्ता हर्ता नहीं है, प्रत्येक जीव अपनी अज्ञानता से दुखी है एवं सम्यग्ज्ञान से ही सुखी हो सकता है - ऐसे कथन हैं।

भेद रूप भी कथन हैं, अभेद रूप भी कथन हैं, हमें उन कथनों को वीतरागता की मुख्यता से समझना चाहिए, जहाँ एक दूसरे का कर्ता कहा गया है, उसे निमित्त की मुख्यता से किया गया कथन समझना चाहिए, उसे वास्तविक कथन नहीं समझना चाहिए।

व्यवहार नय के जो कथन होते हैं, वे 'ऐसा नहीं है किन्तु...' यह मानकर स्वीकार करने योग्य होते हैं और जो निश्चय नय के कथन होते हैं, वे 'ऐसा ही है' ऐसा मानकर स्वीकार करने योग्य होते हैं। निश्चय नय के कथन मुख्य रूप से अपने अभिप्राय को बदलने के लिए, तदनुरूप अपनी मान्यता बनाने के लिए, श्रद्धान रखने के लिए होते हैं; जबकि व्यवहार नय के कथनों से परमार्थ का प्रतिपादन एवं लोक में प्रवृत्ति होती है।

निश्चय नय के कथन को सुनकर-पढ़कर, कभी भी स्वच्छन्दता का अभिप्राय ग्रहण नहीं करना चाहिए और व्यवहार नय के कथनों के माध्यम से कर्तृत्व का पोषण नहीं करना चाहिए। 'जिनवाणी में कर्तव्य का निषेध नहीं है, कर्तृत्व का निषेध किया गया है।'

इस तरह यदि हम जिनवाणी माँ के अभिप्राय को समझते हैं, जिनवाणी माँ की दृष्टि के अनुसार हम अपना दृष्टिकोण बनाते हैं; तो निश्चित ही हमारा जीवन सफल और सार्थक होगा। ❀❀❀

Created by Universal Document Converter

लेखक द्वारा लिखित प्रकाशित साहित्य

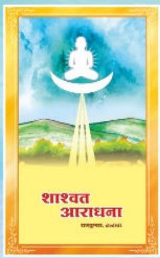

₹ 25/-

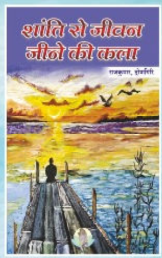

₹ 20/-

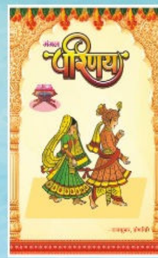

₹ 10/-

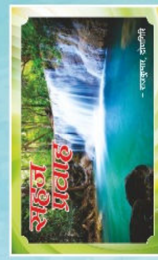

₹ 5/-

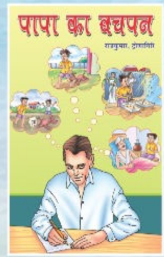

₹ 25/-

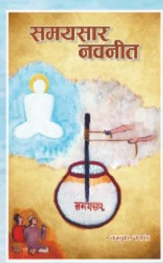

₹ 10/-

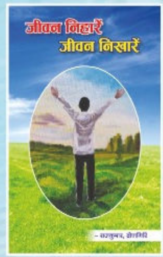

₹ 20/-

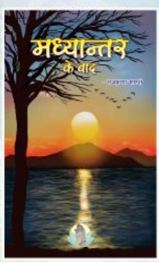

₹ 25/-

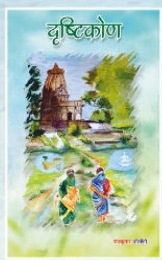

अप्रकाशित साहित्य

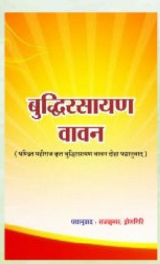

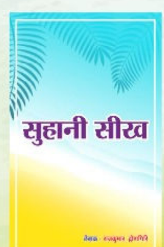

Created by Universal Document Converter

Created by Universal Document Converter